प्रतिभा प्रकाशन सं० ३

स्वतन्त्रता की ओर

●

लेखिका :
कञ्चनलता सब्बरवाल एम० ए०,
प्रिंसीपल
महिला कालेज, लखनऊ

●

प्रतिभा प्रकाशन देहरादून

मूल्य तीन रुपये

प्रकाशक
प्रतिमा प्रकाशन
१२ कचेहरी रोड,
देहरादून

मुद्रक
सुमेध कुमार
भास्कर प्रेस,
देहरादून

रंग में भंग

बहते हुए जल में अनेक अतृप्त हृदयों की भावनाएँ स्नान करते-करते बह जाती हैं। हृदय स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल और पवित्र बना रहता है। एक प्रकार की भावनाओं को बहा कर वह फिर दूसरे ही क्षण मन की दूसरी ही गहरी चिन्ताओं, दुरूह साधनाओं और नवीन आशाओं में डूबने उतराने लगता है। किन्तु वह नन्हा सा बालक किन विचारों में लीन मिट्टी के कच्चे घरौंदे बना बना कर मिटा रहा था यह कहना कठिन है।

बालक के प्रशस्त उज्ज्वल ललाट पर मानो विधाता ने सृष्टि का समस्त सौन्दर्य उँड़ेल दिया है। इसी सौन्दर्य को लेकर मानो प्रकृति अपना हृदय खोल करके रख देती है। ललाट के स्वर्णोज्ज्वल धरातल पर नन्हें नन्हें, छोटे छोटे श्वेत बिन्दु अत्यन्त विनोद के साथ हल्की-हल्की, कोमल-कोमल मुड़ी हुई काली काली खुली हुई अलकों के साथ खेल रहे हैं। विशाल, दीर्घ, घनी काली भौंहों के नीचे छिपे हुए दो विशाल नेत्र बाल-सुलभ चंचलता से घरौंदों की सफलता पर कभी मुस्करा उठते हैं, ओठ भी कभी कभी उनका साथ दे देते हैं।

"क्यों कैसा बना है?"

'उहुंक' सुन्दर नन्हीं-नन्हीं कमल की पंखुड़ियाँ खिल उठीं। एक क्षण के लिए बालक की स्वच्छ नील सागर सदृश आँखों में निराशा की ज्वाला सी हिलोरें लेने लगी। किन्तु एक क्षण

पश्चात् ही निराशा का स्थान गम्भीरता, दृढ़ प्रतिज्ञा तथा साहस ने ले लिया। गौरवमयी इच्छा जागृत हो उठी।

'अच्छा' बालक फिर काम में लग गया।

हाथों की कुशलता मानो द्विगुणित हो गई थी। अंगुलियों के पोर-पोर मिट्टी के ऊपर नाच रहे थे। बालिका तितली की -सी अस्थिरता से कभी यहां, कभी वहां नाच सी रही थी। बालक के कुशल हाथों ने घरौंदे की सुन्दरता में चार चाँद लगा दिये।

'देखो, अब कैसा दीखता है ?' ऋचा, बालिका की सुन्दर आँखें एक बार प्रसन्नता से चमक उठीं। किन्तु तुरन्त ही दुष्टता से बोल उठीं—"कहाँ, कुछ भी तो नहीं बना।" हँसती हुई बालिका पेड़ों के झुरमुट के पीछे छिप गई। बालक के नेत्रों में दुःख या न जाने निराशा से आंसू से झलक उठे। एक क्षण स्तब्ध रह कर फिर बालक के दिव्य नेत्रों में एक दिव्य चमक सी दिखाई पड़ी। फिर से नन्हीं अंगुलियां किरणों के समान जड़ मृत्तिका के हृदय में जीवन भरने लगीं। इस बार बालक की कोमल बाल-सुलभ दृष्टि में एक कठोरता सी थी। दृढ़ निश्चय मानो उसके हृदय को दृढ़तम किये जा रहा था। इस बार तो ज्ञात होता है बालिका का साहस भी छूट चला। बेचारी नन्हीं मुन्नी सी गुड़िया आज प्रातः से ही अकेली खेल रही है। उसका चिर साथी बालक उसके लिये सुन्दर घरौंदा जो तैयार कर रहा था, बालिका शान्ति-पूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा में थी जब घरौंदा तैयार हो जायेगा और वह दोनों खेलेंगे।

घरौंदा हर बार सुन्दरतर होता है।

बालिका भी सौन्दर्यशास्त्र की पण्डिता ही है। किन्तु बालक

को खिजाने में ही उसे आनन्द आता है। उसने भी दृढ़ निश्चय कर लिया है कि आज बालक को पूरी तरह चिढ़ायेगी। पहली बार उस परीक्षा में अपनी ओर से सफल भी हुई। दूसरी बार भी ऐसी सुन्दर वस्तु का तिरस्कार करने में समर्थ हो सकी किन्तु अब तो वह स्वयं हार चुकी है। कितना जिद्दी है यह बालक, किन्तु फिर भी कितनी सुन्दर है यह नारी की हार।

बालिका नन्हीं होते हुए भी तो नारी ही थी न? उसे चिढ़ाना छोड़ कर मानों इस हार में अतुल आनन्द आ रहा था। ठुनक कर बालक के पीछे जा खड़ी हुई। बालक के कन्धे पर हाथ रख कर ऋचा ने कहा—

"अब उठो, मेरे साथ खेलो, मैं तो अब अकेली खेलते खेलते थक गई।"

कैसा सशक्त प्रलोभन था बालक के लिये। हृदय एक बार मचल उठा खेलने को। किन्तु नहीं, कर्तव्य पूरा कहाँ हुआ था? घरौंदा तो अभी तैयार ही नहीं हुआ।

"नहीं, ऋचा, तुम खेलो, मैं पहिले तुम्हारे लिये यह घरौंदा तैयार कर दूँ।"

यह नारी की दूसरी हार थी। किन्तु सुन्दर और पूर्ण ऋचा को इसमें और भी आनन्द आने लगा।

"नहीं, नहीं, अब चलो। मुझे घरौंदा नहीं चाहिये। और यह तो अच्छा बनता भी नहीं।" यह नारी द्वारा की हुई वह चोट थी जो पुरुष को मार्ग दिखाती है। बालक के हृदय में आवाहन का जबरदस्त प्रलोभन अभी तक खेल रहा था। किन्तु इसी क्षण कर्तव्य की झाँकी मिली। दृढ़ता की चमक एक बार फिर बालक के नेत्रों में भर उठी।

"न, ऋची, यह घरौंदा तो बनाना ही पड़ेगा। और वह भी ऐसा कि तुम्हें पसन्द हो सके। फिर दोनों मिलकर खेलेंगे। उससे पूर्व नहीं। तुम यहीं बैठकर देखो।" नारी का मान सजग हो उठा।

"तब फिर जाओ हम नहीं बोलते। ऐसा भी क्या घरौंदा?"

ऋचा रूठ गई थी। सचमुच ही खेल खेल में उसकी सुन्दर आँखों में नीला जल भर आया। बालक का हृदय इस बार बड़े जोर से हिल उठा। अंगुलियाँ कार्य छोड़ रही थीं। निकट ही था कि बालक हाथ हटा ले।

"ऐसा तो कोई बहुत अच्छा भी नहीं बना पाते।" नारी ने ठेस दी। सने हुए हाथ फिर चल पड़े। चुपचाप गम्भीर प्रकृति बालक फिर एक बार जड़ मिट्टी के साथ उलझ पड़ा। नन्हीं बालिका उचककर पास के वृक्ष की एक झुकी हुई डाली पर बैठ गई। उसके नेत्र अब भी आँसुओं से भरे थे। दृष्टि अनन्त आकाश पर विरुद्ध दिशा में खेल रही थी।

बालक एकान्त रूप से पानी और मिट्टी को मिलाकर दीवारें उठा रहा था। नारी का अभिमान सो चुका था। सो चुका था गर्व भी और इच्छा भी। घरौंदा सचमुच ही बहुत सुन्दर बना था। बालिका अकस्मात चिल्ला उठी—"अरे, यह तो बहुत सुन्दर बन गया। अब तुम हटो, मैं खेलूँगी।"

तालियाँ बजाती हुई बालिका दूसरे ही क्षण घरौंदे के निकट थी। गम्भीर बालक के नेत्रों से हर्ष की किरणें फूटी पड़ रही थीं, उसके विशाल नेत्रों में हर्ष के आँसू थे।

"तुम मुझे यदि ऐसा सुन्दर घरौंदा रोज बनाकर दो तो

मैं तुम्हें बड़ी अम्माँ से लाकर रोज ही ढेर सारा कुसुम चंदन दूँ। वह बड़ा अच्छा बनाती है और केवल मुझे ही बनाकर देती हैं।" बालिका तितली की तरह नाच रही थी।

"अच्छा, रोज ही बना दूँगा।"

"बेटी, बालक को इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने हैं।" बच्चे विस्मित से हो गये। निकट ही साठ वर्ष का एक गम्भीर आकृति वाला साधु खड़ा था। उसकी श्वेत दाढ़ी नाभि से कुछ ही ऊँची रही होगी। हाथ का त्रिशूल भी रह-रहकर काँप उठता था। बालिका डरकर बालक के पीछे की ओर छिपने लगी। साहसी बालक ने नन्हीं बालिका को एक बड़े योद्धा की तरह पीठ के पीछे छिपाकर अत्यन्त निर्भीकता से कहा—

"श्रीमान्, आप क्या चाहते हैं। आप से मेरी यह नन्हीं बहिन डर सी रही है।" साधु ने अत्यधिक कोमल स्वर से कहा—

"बच्ची, डरो ना। तुम्हारा यह सौभाग्य शायद संसार की समस्त नारियों की ईर्ष्या की वस्तु बन जायेगा। तुम्हारा यह दृढ़प्रतिज्ञ भाई यदि तुम्हारी सहानुभूति, आशा की चमक और उत्साहित करने वाली वात्सल्यपूर्ण वाणी पाता रहा तो भारतभूमि को अपने उद्धार के लिये अन्य किसी सन्तान की प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी। बच्चे, अपना दाहिना हाथ तो आगे करो।" निर्भयता से बालक ने अपना हाथ आगे कर दिया। उसके नेत्रों में जागृति तथा संतोष की ज्योति थी। "बच्चे, भारत माँ के सच्चे सैनिक, तुम्हारी ही तो मां को आवश्यकता है। माँ अनन्त युगों से तुम सरीखे पुत्रों ही की प्रतीक्षा कर रही थी। तुम अवश्य इसकी सेवा करोगे। अवश्य करो। किन्तु यह क्या,

आकाश कठोरतापूर्ण रक्त वर्ण क्यों है ? बालक, निराशा तुम्हारी प्रेमिका है। कर्तव्य और प्रेम के घोर संघर्ष में कर्तव्य को भूल न जाना, लाल। किन्तु फिर भी क्या ? निराशा तो, तुम्हारा वरण करेगी ही। फिर भी सृष्टि के प्रियतम जीव ! माँ की आहों को हृदय की चिता से उठने वाली कठोर धूमाग्नि में डुबा न देना। बच्ची, तुम तो हाथ दिखाओ।"

डरते डरते बालिका भी दाहिना हाथ फैला देती है।

"नहीं, नहीं, बायाँ हाथ दिखाओ।"

गम्भीरता-पूर्वक देखकर—"ओह, नहीं, नहीं, गणना सदैव सत्य नहीं हुआ करती। बच्चो, असम्भव की इच्छा करने से सदैव दुःख ही प्राप्त होता है यही समझकर उससे परे ही रहने का यत्न करना। विश्वनियन्ता की विधि का विधान भी स्वयं वही करेंगे यही विश्वास रखना।"

बालिका के दृष्टि उठाने के पूर्व ही साधु दूर जा चुका था। बालिका सहम सी गई थी। सहसा बोलने की मानो उसमें शक्ति ही न थी।

"अच्ची, डर गई क्या ?" पुकारते समय स्नेह-विगलित स्वर में वह अच्ची ही कहता था, अच्चा कह पाता ही कहाँ था।

"नहीं, भइया। यह बात नहीं। यह साधु क्या कह रहा था ?"

"कुछ भी नहीं, चल री घर चलें। माँ आज भी एकान्त में भाग आने पर अप्रसन्न होंगी। देख, वह नन्दा भी आ ही रही है। चल उधर से भाग चलें।"

फिर

जमींदार की सुनसान वाटिका के एक किनारे बैठकर खेलने वाले बालक पाठक-पाठिकाओं से भले ही अपरिचित हों किन्तु लेखिका के साथ तो उनका घनिष्ठ सम्बन्ध सा ही है। नगर से थोड़ी ही दूर पर स्थित एक विशाल जमींदारी के मालिक रूपेन्द्रसिंह अपने यौवन काल में एक चतुर, रूपवान और बुद्धिमान युवक समझे जाते थे। चीफ्स कालेज में अध्ययन करने के बाद ही आपका विचार सुदूर स्थित विदेशी विश्वविद्यालय में जाने का था कि आपके पिता का असमय में ही हृदयरोग से देहान्त हो गया। युवक रूपेन्द्र ने रेलगाड़ी के सैकंड क्लास के डिब्बे में बैठकर शीघ्रातिशीघ्र अपने गांव में पदार्पण किया, सम्मुख ही मां की अमंगलमयी वैधव्य मूर्त्ति थी तथा पिता का मृत शरीर। वर्षा हो चुकने के पश्चात् आकाश का पीत श्याम मुख बहुत लोगों ने देखा होगा किन्तु प्रौढ़ा श्यामसुन्दरी का पीला मुख मानो अपनी उपमा ही नहीं रखता था। आंखों का जल मानों आंखों में ही सूखकर आंखों को रक्तमयी ज्वालाएं ही दे गया था। युवक रूपेन्द्र का हृदय पूरी तरह मथा गया। इस अकल्याणी वैधव्य मूर्त्ति के चरण भी न छूकर वह धम से पृथ्वी पर बैठ गया। घर भर में हाहाकार मच गया।

विधवा श्यामसुन्दरी मुख पर कठोर मुद्रा धारण कर बोली—"रूपेन्द्र, तुम इनके पुत्र हो, किन्तु मैं पत्नी हूँ, सुख और

दुःख दोनों में ही हमें इनके प्रति कर्तव्य-पालन करना ही पड़ेगा चाहे वह कितना ही कठोर क्यों न हो।"

"मां" रूपेन्द्र रो उठा।

"उठो पुत्र का कर्तव्य करो।" कहा जाता है कि उस दिन फिर श्यामसुन्दरी बोल न सकी।

पास पड़ोस की महिलाएं ऐसा सुन्दर निन्दा करने का अवसर छोड़ न सकीं। अनेकों देवियां महीनों तक उस घटना की चर्चा करके कहती रहीं—

"अरी, वह तो दो घड़ी भी उसे घर में पड़ा न रखना चाहती थी।"

"आंख के आंसू और शर्म दोनों ढल गये।"

"पति की मृत्यु पर स्त्री को इतनी चेतना कहीं रह सकती है।"

और चर्चा चलती ही जाती थी, किन्तु रूपेन्द्र ने आज ही मां को पहचाना। उसने नगर की अनेकों सभाओं में मिसिज विनयकर, मिसिज पांडे और मिस नैयर के तेजस्वी धारा-प्रवाही भाषण सुने थे। माताहारी की फिल्मों में उसकी वीरता के कार्य भी आश्चर्य-चकित नेत्रों से देखे थे। जौन डे आर्क का अद्भुत चरित्र भी पढ़ पढ़कर अपने देश की नारियों की दुर्बलता पर अनेक व्याख्यान कालेज की सभाओं में दिये थे। किन्तु प्रिय पूजनीय पिता की असामायिक दुःखद मृत्यु की कुबेला में एक अद्भुत दृश्य वह सम्पूर्ण दृष्टि से ग्राह्य कर सका। उस सीधी सादी दीना-हीना अपढ़ रमणी के महत्व को उसने आजही पहचाना जो उसकी मां थी। पिता के उन्माद अत्याचार-पूर्ण दुष्कृत्यों की छाप जिसके हृदय पर अब भी अमिट थी।

धीरे से उठकर उसने माँ, उस विधवा, अशिक्षिता माँ के चरण छू लिये।

क्रिया-कर्म हो जाने के बाद जब श्यामसुन्दरी ने पुत्र से पढ़ने के लिए नगर जाने का आग्रह किया तो रूपेन्द्र बोला—"माँ, कालेज की शिक्षा तो समाप्त हो गई। अब विदेश जाने की इच्छा नहीं। जो कुछ सीखना है इन्हीं श्रीचरणों में बैठकर सीख लूंगा।"

"नहीं रे, यदि तू विदेश जाना चाहता है तो जा शिक्षा समाप्त कर ले। तुझे किसी प्रकार की कमी न होगी।"

"सो तो जानता हूं माँ, लेकिन अब कहीं जाऊंगा नहीं। और फिर नन्हें सत्येन्द्र को भी तो मनुष्य बनाना है। न होगा वही जाकर विदेश आदि की शिक्षा समाप्त कर लेगा। किन्तु ऐसे समय तुम्हें छोड़कर मैं तो कहीं भी न जा सकूँगा। तुम सरीखा गुरु और कहां मिलेगा माँ?"

माँ के नेत्रों में एक सूखी कठोरता थी। मानो उसके जीवन की सारी सरसता पति की चिता में ही भस्म हो गई हो। चिरदु:खिनी श्यामसुन्दरी सहज स्वाभाविक स्वर में बोली—"जैसे तुम्हारी इच्छा।" इस अद्भुत रमणी के छोटे से जीवन के इतिहास के यही गिने चुने शब्द थे।

रूपेन्द्र माँ के पास न बैठ सके। धीरे से वैधव्य प्रतिमा के चरणों में सिर झुका कर उठ गये।

ठीक इसी समय द्वार की ओट में बैठी हुई इस घर की नई रानी रूपेन्द्र की नवविवाहिता शिक्षिता पत्नी शिखा अपने स्थान से उठकर देवमन्दिर में जा ठाकुर के सम्मुख सिर नवाकर मन ही मन कह उठी—"देव, यावज्जीवन तुम्हें पत्थर

ही तो समझा था किन्तु कालेज के लेक्चरों में किसी दिन भी यह न जान सकी कि इन्हीं पत्थर के उपासकों के उपासक भी संसार में उत्पन्न हो जाते हैं। देव, यही आशीर्वाद दो कि मेरे देवता जिनकी इतनी श्रद्धा से उपासना करते हैं गृहिणी के पद पर पहुंचकर उनकी किसी दिन अनजाने में भी उपेक्षा न कर सकूं।"

इन्हीं सर्वगुणमयी गम्भीर माँ श्यामसुन्दरी के मायके के दरिद्र पुरोहित की अनाथा बालिका ऋचा इस महल में पलकर बड़ी हो रही थी। सत्येन्द्र और ऋचा ही आजकल घर भर के खिलौने थे और वह स्वयं एक दूसरे के खिलौने।

"इतना रूप ?"

"मनुष्य-मनुष्य में इतना भेद क्यों ? एक मोटर में चढ़ कर दूसरे की ओर ताकने से भी लज्जित होता है और दूसरा सदैव पृथ्वी पर धूल में भरा हुआ खड़ा रहकर मोटर स्थित देवता की ओर ताकना ही जीवन का चरम उद्देश्य समझता है। यह सृष्टि का घोरतम अन्याय नहीं है क्या ?" उसने कहा।

"किन्तु, समाज की शृङ्खला व्यवस्थित रखने के लिये यह आवश्यक नहीं है क्या कि एक मोटर बनाये और दूसरा उस पर बैठे। यदि दोनों ही बनायेंगे तो बैठेगा कौन ? और यदि दोनों ही बैठने लगे बनायेगा कौन ? किन्तु बनाने वाले में निर्माता के लिए उचित गौरव तथा उपभोग करने वाले के मन में निरर्थक अभिमान नहीं होना चाहिये।"

"किन्तु मोटर की आवश्यकता ही क्या है ?"

"मोटर की आवश्यकता न सही। फिर भी अधिकारी-भेद तो रहेगा ही। भाई, हमारी वर्ण-व्यवस्था मूर्खों का खेल तो नहीं थी ?"

"हुश, जब देखो पुराना पचड़ा ले बैठते हो। अरे, तुम कालेज में आये ही क्यों ? मजे की जमींदारी है। बैठकर घर ही गरीबों का गला काटते, खून चूसते, मौज करते, यहां आकर व्यर्थ ही धन और समय नष्ट कर रहे हो।"

"अरे भाई, अपने रीति-रिवाज छोड़कर किसके रीति-

रिवाजों की बात करूँ ?" शान्त उत्तर था।

"अरे मूर्खराज, संसार हमें सभ्यता की दौड़ में कब का पीछे छोड़ चुका है। रूस को ही देखो निरंकुश राजव्यवस्था, धनियों का शासन और काल्पनिक भगवान की कहानियां छोड़ कर वास्तविकता में कितनी उन्नति कर रहा है। यही है न जीवित जातियों का धर्म। यही है संसार में जीवन का अमर इतिहास। पुरानी रूढ़ियों से चिपटा रहना तो मृत्यु का चिन्ह है। मृत्यु से मनुष्य को सहूलियत तो अवश्य होती है, हाथ पांव हिलाने नहीं पड़ते, हिलना भी नहीं पड़ता, कर्म भी नहीं करना पड़ता। मूर्ख कवि इसे यदि शान्तिदायिनी कहना चाहें तो कह लें, किन्तु मैं तो इसे कठोर सत्य मृत्यु ही कहूँगा। छिः, अकर्मण्यता ही क्या भारत का ध्येय है।" क्रोध से उसके नथुने फड़क रहे थे। मुख पर अनेकों सिकुड़नें इकट्ठी होकर आन्तरिक घृणा प्रकट कर रही थीं। मानो वह सारे संसार में क्रान्ति कर डालना चाहता हो।

"ओह! मैं तो भूल ही गया था कि तुम क्रान्ति के समर्थक हो।" उसने मजाक के लहजे में कहा।

"हाँ, हाँ, मैं क्रान्तिकारी हूं। मैं विश्व का सच्चा साथी हूं। रूस की उज्ज्वल क्रान्ति मेरे सम्मुख है। और प्रजातन्त्र का उच्च उद्देश्य मेरे हृदय में। क्रान्तिकारी होना कोई गुनाह नहीं है, सत्येन्द्र! यह भी भारत का एक सौभाग्य ही होगा, यदि यहां सच्चे क्रान्तिभक्त हो सकें। किन्तु तुम जैसे देश की सभ्यता के अन्धभक्त क्या यह स्वप्न सच्चा होने देंगे? देश के तुम लोग शत्रु हो। बालिकाओं, नन्हीं बच्चियों के गले घोंटते हो। उन्हें अपने विवाह में बोलने तक का भी अधिकार

नहीं देते। पति चुनने का अधिकार देते हुए तुम्हारे हृदय का समस्त रक्त सूखने लगता है और फिर भी बड़े जोर से कहते हो कि तुम स्वयम्वर प्रथा के अनुयायी हो। छिः, शर्म तो नहीं आती। कहीं अपनी इस प्राचीन सभ्यता को लेकर डूब मरो। स्वार्थी धर्मशास्त्रों के रचयिता नारी के हृदय का समस्त रस, रक्त चूसकर भी नहीं माने। उसके जीवन की इतिश्री कर देना ही उनका उद्देश्य था न? और तुम उन्हीं के भक्त हो। जब देश-विदेश की नारियाँ स्वतन्त्र वायु में साँस लेकर अपने अधिकारों का पूर्ण रूप से उपयोग कर रही हैं, जीवन के अर्थ, सच्चे अर्थ समझने का यत्न कर रही हैं, दर्शन, ज्ञान और विज्ञान में पुरुषों से एक पग भी पीछे नहीं हैं, और तुम्हारी नन्हीं गुड़ियां सी कन्याएं बहुएँ माताएँ बन कर जीवन का ह्रास कर रही हैं। यही तो है तुम्हारी सभ्यता? फिर भी दुहाई देते हो इस सभ्यता की। यह सत्य तो है चाहे कठोर सत्य ही क्यों न हो। जब मिस हैरेल्ड विज्ञान की अद्वितीय खोज करने वाली बनकर हमें भी विज्ञान की शिक्षा दे रही हैं, हम उसके सन्मुख नतमस्तक हो, शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं तब तुम्हारी माँ, तुम्हारी हिन्दू सभ्यता की भक्त बहिन चूल्हे के पार्श्व में बैठी रोटियों की अद्भुत सृष्टि कर रही हैं। उनके लिए यही है मानव जीवन की चरम सीमा। गाओ इसके गाने जितने जी चाहो कहो, कहो "यही वृद्ध भारत गुरु है हमारा।" अरे वाह रे गुरु महाराज! इन नारियों को असूर्यस्पर्शी बनाना ही तुम्हारी शिक्षा है। धन्य हो।" उत्तेजित होकर सत्येन्द्र का अनन्यतम मित्र रविकान्त शर्मा हाँफने लगा। मुख तमतमाया हुआ तथा हृदय जल रहा सा मालूम होता था। बात बदल

कर सत्येन्द्र ने कहा—"उठो भाई, अन्दर चलकर चाय पी लो नहीं तो बेचारी ऋचा तो वास्तव में ही भारतीय सभ्यता को गालियां देने लगेगी।"

मित्र की उत्तेजना को सत्येन्द्र इसीतरह ठंडे जल के छींटों से शान्त किया करता था। दृढ़प्रतिज्ञ उत्साही क्रान्तिकारी शर्मा उसके विचारों को जानता हुआ भी उसका मित्र था। विश्वास था कि किसी न किसी दिन वह अवश्य ही सत्येन्द्र से अपना लोहा मनवा लेगा। सत्येन्द्र भी शान्त भाव से उसके उपदेश सुनता, केवल मात्र सुनता ही था। कभी-कभी शान्त विरोध भी कर दिया करता था, जिस का परिणाम एक लम्बा व्याख्यान होता था।

चौदह वर्ष की अवस्था में मैट्रिक पास कर बड़े भइया की आज्ञानुसार नगर में जाकर सत्येन्द्र कालेज में पढ़ने लगा था। अब वह सत्तरह वर्ष का सुन्दर सलौना युवा कालेज के तृतीय वर्ष का विद्यार्थी था।

रविकान्त शर्मा उसका अनन्य मित्र तथा सहपाठी था।

इस बार होली की छुट्टियो में बड़ी कठिनाई से सत्येन्द्र उसे अपने घर लाने पर राजी कर सका था।

अनिन्द्य सुन्दरी ऋचा भी अब तेरह वर्ष की हो चुकी थी। बचपन गले लग लग कर मचल मचल कर बिदा ले रहा था। इच्छा न होने पर भी भुवनभास्कर जैसे शक्तिशाली देव को भी सन्ध्या की बेला में आकाश छोड़ना ही पड़ता है चाहे वह जबरदस्ती अपने मुख की लालिमा कुछ देर तक गगनमण्डल पर बखेरे रखे। ऋचा के बालपन, चंचल चपल बालपन को भी ऐसा सुन्दर केन्द्र छोड़ना ही पड़ रहा है और कदाचित्

इसीलिये बेचारी ऋचा सिकुड़ कर गठरी सी हो जाती है। ऐसे कठिन समय में भी यदि वह किसी को देखकर बचपन की स्मृति के मोह में खिल उठती है तो वह सत्येन्द्र भइया ही है। सत्येन्द्र के नगर चले जाने पर जिस कष्ट से ऋचा के दिन कटे हैं वह वही जानती है। किन्तु अब तो उसे कोई एक साल से एक नन्हा मुन्ना खिलौना मिल गया है। नन्हा जगत या जगतेन्द्र तो ऋचा को छोड़कर माँ के पास भी नहीं जाना चाहता। चलो अच्छा हुआ समय कटने को एक नन्हा साथी तो मिला।

शिखा भाभी भी निश्चिन्त सी हो गई। श्यामसुन्दरी के भी माला फेरने में विघ्न पड़ने की सम्भावना कम ही मालूम पड़ने लगी।

जब से सत्येन्द्र घर आये हैं सारा घर ही प्रसन्नता से फूला जा रहा है और ऋचा भी फूली नहीं समाती। जीवन के प्रथम दिन से ही उसने एक ही साथी देखा था और वह था सत्येन्द्र। उसके हृदय की एक एक झंकार सत्येन्द्र के ही किसी न किसी स्वर से भरी हुई सी सुनाई देती है। फिर इस बार तो भइया के साथ एक मित्र भी हैं, कहीं उनके सत्कार में कोई त्रुटि न हो जाये यही देखना ऋचा का मुख्य कार्य है।

आज भी वह चाय की तैयारी किये बैठी ही थी।

श्वेत उज्ज्वल कुर्त्ती के साथ उसके नन्हें नन्हें सुनहरी किनारे वाली नीली साड़ी बड़ी ही सुन्दर लग रही है। यह साड़ी उसे जगत के जन्म दिन पर रूप भइया ने लाकर दी थी। स्वयं जगत अपने हाथों में लेकर बुआ के पास आया था। उसे यह साड़ी अत्यंत प्रिय थी। घने काले बालों के बीचोंबीच उज्ज्वल सुन्दर सा मुख ठीक नील जल में कमल सा मालूम

पड़ता था।

इसी समय सत्येन्द्र, शर्मा को लेकर आ पहुँचा। उस कठिन, कठोर रवि शर्मा की आंखें झेंप सी गईं। कहा जाता था कि वह अपने कालेज में सबसे कठोर तथा निरीह छात्र था। महिलाओं को उपेक्षा की वस्तु तो चाहे वह न समझता हो किंतु सभाओं में उसे प्रायः छात्राओं का साथ करना पड़ता था और वह उन्हें अपने सहपाठियों जैसा ही समझता था। नारी में कोई विशेषता हो भी सकती है यह सोचना भी उसके लिये दुरूह था। नारी एक लम्बी साड़ी में लिपटा मनुष्य मात्र ही था। अनेकों सुन्दरी युवतियां उसके रूप, गुण और तेज पर मोहित हो उसके निकटातिनिकट आने का यत्न कर चुकीं थीं। शर्मा उन सबकी ओर हंसकर देख भर लेता था मानो वह किसी कला भवन में रखी हुई सुन्दर पुतलियाँ हों लेकिन उसे पसंद न हों। वह यदि चाहे तो उन पुतलियों से खेल सकता है किंतु उन्हें उठाकर अपने पास सुरक्षित रखेगा नहीं क्योंकि वह तो प्रतिमा मात्र ही हैं, सजीव कभी नहीं। वह उनकी ओर देखकर लज्जित नहीं होता। वह भी तो मनुष्य हैं फिर उनसे लज्जा कैसी? वह उन्हें देखकर आदर से सिर भी नहीं झुकाता क्योंकि वह उसकी सहपाठी मात्र हैं, कुछ गुरु नहीं। किंतु आज अचानक ही शर्मा की आंखें झेंप सी गईं। ऋचा उठकर जाने लगी।

"अरी बैठ री ऋचा, यह तो तेरे रवि भइया हैं। भला इनसे लज्जा कैसी? भला इस छोटी सी लड़की की बातें तो देखो।"

भोला भाला सत्येन्द्र खिलखिला रहा था।

कठोर सत्यवादी शर्मा झेंप रहा था।

ऋचा कुर्सी के किनारे पर ही बैठ गई। दौड़ता हुआ जगत आकर बुआ की गोद में चढ़ने का प्रयत्न कर, अपना एक मात्र आधिपत्य सिद्ध करने लगा।

"भइया, चाय तो पी लो, कब से लिये बैठी हूँ।" ऋचा ने धीरे से कहा।

"हाँ, हाँ चाय भी पीयेंगे। पहले ऋचा, अपना कुछ काम तो रवि भइया को दिखा? रवि, तुम्हें तो मालूम ही है कि हमारे घर की लड़कियाँ कालेज में पढ़ने नहीं जाने पातीं। मेरी भाभी भी घर पर ही पढ़कर बी० ए० कर पाई थीं और माँ की इच्छा ऋचा को तो कोई भी यूनिवर्सिटी की परीक्षा दिलाने की नहीं है। यूँ ही थोड़ी बहुत अंग्रेजी भाभी से पढ़ लेती है। कभी कभी भइया भी पढ़ा देते हैं। थोड़ी बहुत संस्कृत भी पंडित जी से पढ़ लेती है। माँ कहती है लड़कियों के लिये रामायण, महाभारत ही बहुत है। वैसे सिलाई आदि में बहुत कुशल है और फिर समोसे तो इसके बनाये अभी खाओगे तो जानोगे। क्यों, ऋचि, कुछ बनाना आता-वाता भी है?" सत्येन्द्र हंस रहा था। रविकांत को तो मानों सहारा ही मिल गया। एकदम उबल उठा —

"हाँ, लड़कियों को क्यों पढ़ाओगे? मनु महाराज जो कह गये हैं कि लड़कियां चक्की ही चलाती रहा करें। बारीक आटा पीसकर पुरुष के स्वार्थी पेट में युगयुगांतर तक ठूंसती रहें। अंधे, बहरे, क्रोधी पति की सेवा करके स्वर्ग की सीढ़ी तैयार करती रहा करें। यही न?"

ऋचा के लिये यह शब्द नये ही थे। बेचारी पूरी तरह

आँखें फाड़कर देखती रही। हंसी से उसका नन्हा सा हृदय फूलने लगा। बड़ी कठिनता से हंसी के प्रथम आवेग को रोककर वह बोली—"तो फिर चलो न रवि भइया, तुम भी समोसे बनाओ! देखें कैसे बनाते हो?" हंसी से वह लोटी जा रही थी। "तुम भी बनाओगे क्या? सत्येन्द्र भइया यह खूब कालेज से सीखकर आये हो? तब वहां क्या सब पुरुष ही खाना बनाते हैं?"

वह तो हंसे ही जा रही थी।

"अरी हंस २ कर मर जायेगी क्या? यह बातें तो तुम्हें रवि भइया से प्रतिदिन ही सुननी पड़ेगीं। कब तक हंसेगी? बता तो सही?"

ऋचा सचमुच समझ रही थी कि रवि भइया हंसी कर रहे हैं। अब तो गम्भीर हो एकदम आश्चर्य-चकित हो बैठी।

मुखर, कठोर रविकांत शर्मा भी आज जीवन में पहली बार सहम गया। नारी की आडम्बर रहित, सहज, स्वाभाविक हंसी से न जीता जा सके, ऐसा संसार में कौन पुरुष जन्मा है?

संभलकर रवि शर्मा बोले, "चूल्हे और चक्की के अतिरिक्त भी सृष्टि के बहुत से काम तुम्हीं लोग करोगी। अगर अपनी शक्ति केवल घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रखोगी तो सृष्टि के काम कौन करेगा?"

सत्येन्द्र खिल उठा। वह आज मन ही मन कामना कर रहा था कि यह चपला छोटी सी बालिका आज उसके मित्र की अलौकिक प्रतिभा का लोहा मान ले और इतना बड़ा अनर्थ हो जाने देना ऋचा की प्रकृति के विरुद्ध था।

वह हंसते हुए बोली—"अच्छा आज तो आप इन

समोसों की सद्‌गति करिये, फिर कभी आप लोगों की करी हुई रसोई चखूंगी। अभी मेरा भी ढेर सारा काम शेष है। फिर माँ को रामायण भी सुनानी है।" अंतिम वाक्य सम्भवतः ऋचा ने जानकर रवि शर्मा को चिढ़ाने के ही लिए कहा था। यही उसकी चंचल प्रकृति थी। सीधी सी बात तो वह कदाचित ही कहती हो।

रवि सिर से पैर तक जल उठा। इतनी उदासीनता, इतनी उपेक्षा से तो जीवन भर में कभी किसी ने उसकी तेजस्वी वार्ता नहीं सुनी थी। वह कोई तीखी सी बात कहना चाहता ही था कि ऋचा के झुके हुए जवाकुसुम सम लाल फड़कते हुए होठों को देखकर न जाने क्या सोचकर वह चुपचाप प्याले में चाय डालने लगा।

शायद वह सोच रहा था कि यह सहमाने वाला तेज नारी रूपी जीव की स्वाभाविक विशेषता है अथवा मूर्खता का स्वरूप?

चंचला

"अरे भइया, हमारे लिये भी कुछ छोड़ोगे?" हंसी से दोहरी होती हुई ऋचा कह रही थी।

"क्यों री, अब इतने दिनों बाद आया है, क्या खाने भी नहीं देगी?" श्यामसुन्दरी अपने सहज स्वाभाविक स्वर में बोली।

"देखो न माँ, यह लड़की इतनी दुष्ट होती जा रही है। यह तो हुआ नहीं कि उठकर जरा दही-बड़े तो ला दे, ऊपर से कह रही है कि तुम सब खाये जा रहे हो। सामने बैठी तो तू घूर रही है और तुझे क्या चाहिये?" हंसते २ बड़ी कठिनाई से सत्येन्द्र ने कहा।

"क्यों रवि भइया और दहीबड़े लोगे?"

इससे पहले ही ऐसे ही एक ताने पर ऋचा रवि शर्मा की थाली में ढेर सारे दहीबड़े डाल चुकी थी।

रवि शर्मा चौंक उठा। उसका मुख कान तक लाल हो उठा।

कहां, ऐसी बात तो कभी किसी नारी ने सहज स्वाभाविक रीति से स्टैण्डर्ड पर की जाने वाली पार्टियों में कभी नहीं कही थी। यद्यपि मित्रों में उसकी हंसी होती थी कि मिस चैटरजी की उस पर खास कृपा है, वह सदैव खिलाते समय उसका पक्ष लेती हैं किन्तु उसने तो किसो दिन भी ताजा न

की। मुख उठाकर उन चपला शहर की कालेज में पढ़ने वाली लड़कियों की आँखों में सीधा देखता हुआ खाता रहा- किन्तु आज तो मानों दृष्टि भी धोखा दे रही है। कितना अन्तर है? लेकिन क्यों? मैं इस अपढ़, जागृति की दौड़ में इतनी पिछड़ी हुई नारी से इतना क्यों सहमता हूं? क्या मूर्खता में इतना तेज हो सकता है? अथवा मेरी इस समाज के साथ अभिज्ञता ही इसका कारण है? कुछ भी हो, विचित्र है यह बालिका और चपल भी कितनी है।

इन्हीं विचारों में लीन रविकांत के कर्णकुहरों में परिचित शब्द घुसे। घबराकर उसने कहा—"नहीं, नहीं।"

"झेंपते क्यों हो मित्र? भाभी के बनाये हुए बड़े तो वास्तव में खाने की स्वादिष्ट वस्तु है।" सत्येन्द्र बोला।

"सो तो देख ही रहा हूं। ज्ञात होता है भाभी ने खाना बनाने में भी ग्रेजुएशन किया है।" शब्दों में चाहे हंसी हो किन्तु स्वर के साथ मिलकर सृष्टि की समस्त रुखाई मानों उन्हीं में आ भरी।

निरीह किन्तु महान श्यामसुन्दरी का वात्सल्य इस अपरिचित युवक के प्रति सर्वांगपूर्ण हो जागृत हो उठा। 'चुप रह रिची, बेचारे लड़के को क्या दो दिन भी आराम से रहने नहीं देगी? जब देखो उसे छेड़ती ही रहती है। कितना शान्त है यह रवि कि तुम्हें कुछ कहता ही नहीं। सत्य तो कभी का तुझे दो चपत लगा कर ठीक कर देता।"

रवि फिर उलझ गया विचारधारा में। "ओह, क्या मैं शान्त हूं? कहाँ? घर और बाहर सभी तो कहा करते हैं कि रविकांत तो मानो अग्नि निर्मित है। क्रोध तो उसकी नाक पर

ही रखा रहता है। उस दिन उसने निर्भय रूप से मिसिज राधवम् को कितनी झाड़ दी थी। यहाँ तक कि मिस शर्मा ने कहा था—'कितने असभ्य, कितने अशान्त हो तुम ?' फिर क्या यह मेरी शान्ति है ? नहीं, नहीं यह दुर्बलता है। कठोर, घोर दुर्बलता है। मैं इस नारी को अपनी कठोरता के साथ इस प्रकार खेलने न दूँगा।'' पुरुष का दम्भ, स्वाभिमान जाग उठा, चाहे वह कितना ही घोर नारी अधिकार समर्थक हो फिर भी पुरुष ही था न ? पुरुष अपने अधिकार, प्रसन्नता से, इच्छा से भले ही नारी के चरणों में अर्पित कर दे किन्तु जानते हुए वह यह कभी भी स्वीकार न करेगा कि नारी उस पर विजय प्राप्त कर रही है। वह नारी को स्वभाव से ही पराजित और दबी हुई देखना चाहता है और फिर स्वयं अपने हाथ से उसे उठाकर अपनी महत्ता प्रकट करना चाहता है। ऐसा न करने में उसका अपमान जो होता है। वह विजयी है, उसे विजयी होकर पराजित के प्रति सहानुभूति दिखानी चाहिये किन्तु स्वयं पराजित होकर वह नारी का दया पात्र बनना नहीं चाहता। किन्तु अपने दम्भ, अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसे पराजित होना ही पड़ता है, चाहे वह पराजय मधुर ही हो। फिर तेजस्वी, स्वाभिमानी रविकान्त एक अशिक्षिता नारी को अपने विरोध में विजयी कैसे होने देगा ?

"रवि बाबू, खाना मैं खिला दूँ ?" भाभी शिखा ने रसोई से निकलते ही देखा कि विचारमग्न रविकान्त गुमसुम से बैठे हैं, ढेर सारा भात ज्यों का त्यों थाली में पड़ा है। सत्येन्द्र और शची रानी बातों में मग्न हैं।

भूल सुधारने के लिए रवि शर्मा झटपट खूब सारा भात

लेकर मुँह में ठूँसने लगा। यह देखकर सारे लोग जोर से हँस पड़े। अब तक रवि अपने आपको सँभाल चुका था। वह फिर शान्त होकर सिर झुकाये भात सानने लगा।

"क्यों सत्त भइया, भला होस्टल में इन्हें कौन खाना खिलाता होगा? स्वयं खाते हों सो तो जान नहीं पड़ता?" ऋचा ही पहले बोली।

"तब क्या तुझे बुलाने जाते हैं?" सत्येन्द्र ने हँसते हुए कहा।

"मुझे ले चलो न रवि बाबू, खाना बना भी दिया करूँगी और खिला भी।" शिखा बोली।

"और रूप भइया को भी ले चलना होगा। क्यों भाभी? भइया तो तुम्हारे बिना रह न सकेंगे। जगत को तो यह ऋची-मिची सँभाल लेगी।"

"हुं, तुम्हारे भइया तो मानो कोई नन्हें बच्चे हैं जिनका काम नर्स बिना चल ही नहीं सकता।" गर्व मिश्रित प्रसन्नता से शिखा बोली। श्यामसुन्दरी पहले ही पूजा करने जा चुकी थीं।

"चलिये भाभी, भला आपके हाथ की रसोई यदि रोज मिले तो हम होस्टल में अकेले पड़े हुए लोगों के भाग्य ही न खुल जाँय।" पहली बार रविकान्त स्वाभाविक रूप से बोला।

"राम भजो रवि! एक बार भइया को किसी शुभकार्य पर भाभी को इनके पितृगृह दो सप्ताह के लिये भेजना पड़ गया था, सो भी लाचारी से। माँ तो काशी गई हुई थीं। मैं और रिची घर पर ही थे। रिची ने अत्यन्त कुशलता से भइया के सारे काम सँभाले फिर भी कहा जाता है कि भाभी के लौटते लौटते भइया का मुख पीला हो गया था और भाभी के आने पर एक

सप्ताह बाद ही फिर गुलाबी हो गया।"

शिखा गर्व और लाज से मरी जा रही थी। सत्येन्द्र और ऋचा हँस रहे थे। रविकान्त फिर एक चिन्ता में पड़ गया था।

बात यों थी कि शिखा को अपने भाई के विवाह पर दो सप्ताह के लिये अपने मातृगृह जाना पड़ा था। गये तो रूपेन्द्र भी थे किन्तु दो ही तीन दिन के लिये। इसी बीच में रूपेन्द्र को दो तीन दिन ज्वर भी हो आया। जिस दिन भाभी लौटीं उसी दिन उन्हें पथ्य मिला था। सहज स्वाभाविक रीति से आश्चर्य में भरकर शिखा ने पीले हो जाने का कारण पूछा और न जाने कैसे यह बात सत्येन्द्र के तीव्र कानों तक पहुँच गई। अब जब तब यही कहकर भाभी को छेड़ दिया करता है।

रविकान्त के लिए तो यह नवीन अनुभव था। उसके घर में कोई भइया भी नहीं है और भाभी भी नहीं। कभी किसी दिन उसने यह कल्पना भी न की थी कि नारी पुरुष जीवन का इतना आवश्यक अंग है। वह तो सदैव यही समझता आया था कि पुरुष और स्त्री यह दोनों ही 'यूनिट' हैं, 'इकाई' हैं, पूर्ण और पृथक। दोनों का पृथक २ अस्तित्व है, एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। दोनों ही साथी हैं किन्तु एक दूसरे को पूर्ण नहीं करता; केवल मात्र एक दूसरे का सहयोगी, साथी, सहकर्मी होता है। आज ही वह सुन रहा है कि पुरुष इतना अपूर्ण है, आश्रित है, उसका काम नारी के बिना नहीं चलता। नारी ही उसे पूर्णता को प्राप्त कराती है। कितना भयंकर विचार है और यदि सत्य है तो कितना कठोर सत्य। सृष्टि में, प्रकृति-प्रदत्त सृष्टि में कोई भी किसी का आश्रित क्यों हो? क्यों न सब पूर्ण अधिकार प्राप्त करें? क्यों न नारी को भी स्वतन्त्र

वायु में सांस लेनी दी जाय ? क्यों न भारतीय स्त्री को भी संसार में स्वतन्त्र प्राणी की भाँति विचरण करने दिया जाय ? यह कहकर उसने सदैव भारतीय नारी पर दया करना ही सीखा था। किन्तु आज पहली ही बार वह कांप उठा। ओह ! भारतीय पुरुष की स्थिति अधिक भयंकर है ? उस पर भी सहानुभूति की वृष्टि करनी पड़ेगी। किन्तु फिर यह नारी अबला कैसे हुई ? पुरुष इसके बिना जीवित न रह सकेगा। किन्तु नन्हें बालक में लिप्त यह माया पुरुष के बिना भी अपने मोह का नवीन बन्धन बना लेगी। फिर दया के योग्य कौन हुआ ? नारी या नर ? यही समस्या आज रविकान्त के समस्त व्यक्तित्व को मथकर उसे आश्चर्यान्वित कर रही थी।

यह नारी का कौन सा रूप है ? कैसा रूप है ? इच्छा होते हुए भी पुरुष इस दीन-हीन अबला नारी से अधिक प्रबल है। कहां ? वह तो इसके बिना जीवित नहीं रह सकता। फिर अधिक दयनीय कौन हुआ ?

"अधिक बनाया न करो सत्येन्द्र ! घबराते क्यों हो, तुम्हारी स्वर्ण मेखला भी तैयार हो रही है।"

"सच भाभी, भला बताना लड़की के हाथ लम्बी है ? तुम्हें तो मालूम ही है। मैं तुम से दो हाथ अधिक लम्बी लड़की पसन्द करता हूँ।"

शिखा सवा चार फुट लम्बी थी। ऋचा और शिखा खिल-खिला कर हंस पड़ी।

कितनी निर्दोष हंसी थी ? क्लब के प्रांगण में बैठकर अनेकों बार चाय के साथ ही साथ रविकान्त इसी तरह की बातें मिसिज नौरंग से लगाकर मिस राय तक से सुन चुका था।

कई बार हंस चुका था। आज उनसे इस सरल हंसी भरी वाक्य-ग्रंथी का मिलान कर क्षण भर के लिये उसका हृदय घृणा से भर उठा। कितनी सरल है यह हंसी और कितनी कृत्रिमता भरी हुई है उस चाय के साथ की जाने वाली वार्ता में। किन्तु नहीं, मैं किधर जा रहा हूं, यह सब मूर्खता है, भारतीय नारी की अज्ञता है, अपढ़ वातावरण का प्रभाव है, यह स्वाभाविक नहीं। हमें इन सबके विरुद्ध लड़ना है, सामाजिक व्यवस्था के भी, सोचा रवि ने। अधिक देर तक वह अपने आप से युद्ध कर अपने आप को रोक न सका। बिना किसी भूमिका के ही उठ खड़ा हुआ और कुल्लाकर इलायची तक लेने के लिये न रुक कर सीधा अपने कमरे में चला गया। इस समय उसे एकान्त की आवश्यकता थी। मस्तिष्क में अधिकाधिक भाव भर गये थे। उन्हें ठीक करके रखना भी था। सत्येन्द्र को भी रूप भैया के पास जाना था। जमीन्दारी सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातें आज ही तय करनी थीं। शिखा अपने कमरे में जगत के कुर्ते बिखरे पड़े थे, उन्हें मरम्मत कर रखने चली गई और अम्मा श्यामसुन्दरी को ठाकुरद्वारे में रामायण सुनाने चली गई। महाराजिन रसोई समेटने लगी। श्यामसुन्दरी और अम्मा का व्रत था। शिखा भोजन कर चुकी थी।

इतना तेज

"साथियों, मित्रों ! यदि असत्य के नाम पर सत्य की हिंसा करनी है तो मैं अपना त्यागपत्र उपस्थित करती हूँ।"

"आप कहना क्या चाहती हैं ? स्पष्ट रूप से कहिये। इन अलंकारिक और लच्छेदार बातों को सुनने का यहां समय नहीं है।"

"आप सत्य कहते हैं। और इस घनी अंधेरी रात में साढ़े दस बजे मुझे भी बैठकर लच्छेदार बातें करने का समय नहीं है। प्रश्न केवल नीति का है। यदि आप यहां उदार विचारों और नवयुग के अगुआ बन कर भी स्त्रियों को इतना अकर्मण्य और तुच्छ समझेंगे तो मैं आपके 'साथी' कह देने पर ही गर्वित न हो जाऊंगी।" उसकी नुकीली नासिका अग्र भाग से कुछ फैल सी रही थी। काजल चर्चित आँखें ऐनक के शीशों के भीतर से भी हंस सी रही थीं। कर्मठ शीला एक पुरानी कार्य कर्त्री थी। पिछले कई वर्षों से घर वालों के असहनीय निषेध पर भी वह इस सभा की सेवा करती ही जा रही थी। उसका उभरा हुआ व्यक्तित्व, निस्वार्थ सेवा, और ओजपूर्ण वाणी उसे प्रथम श्रेणी के नेताओं में बिठा चुकी थी। कालेज के यह द्वितीय वर्ष की विद्यार्थिनी है। उसकी वक्तव्य-शक्ति का लोहा कालेज की सभी सभाएं मानती हैं। कार्य की लगन भी उसका एक अनुपम गुण है। शीला का कोई कार्य हाथ में ले लेना ही

कार्य की सफलता का चिन्ह है। साथ ही शीला अत्यन्त उदार विचारों तथा चाल ढाल की पोषक भी है। किसी भी विचार का तीव्र विरोध कर तर्क बुद्धि द्वारा विश्लेषण करके वह उसे समूल नष्ट ही कर डालती है। इस अनुपम व्यक्तित्व के अतिरिक्त शीला का रूप भी विद्यार्थियों की चर्चा का एक मनोरंजक विषय है। विशेषतया बोलते समय उसकी नासिका अत्यन्त मधुरता से फैल जाती है। उसके दोनों पतले, चिपके हुये होठों के भीतर खुली दन्त-पंक्ति मोतियों सी खिल उठती है। उसका बाल बनाने का ढंग भी अत्यन्त आकर्षक है। माँग के दोनों ओर बालों के ढेर पहाड़ से उठकर गोल मुख को मानों कुछ लम्बा सा कर देते हैं। गोरे रंग पर बड़ी काली आंखें घनी पलकों के साथ अत्यन्त सुन्दर दीखती हैं। यह सब कुछ सभापति के स्थान पर बैठे रविकान्त शर्मा ने आज पहली ही बार देखा। शीला उसके ही स्काड में है। उन्हें प्रायः सदैव ही साथ साथ काम करना पड़ता है। अनेकों बार टूर पर शीला के सोते समय भी रवि शर्मा को पहरा देना पड़ा है। उसने तेजस्वी शीला को अस्त-व्यस्त सोते भी देखा है और जागते भी। किन्तु उसने तो यह सब कभी भी नहीं देखा था। उसे उन खुली हुई काली आंखों में कभी कमल की छाया तक दिखाई नहीं दी थी।

एक बार शीला ने बड़ी दीनता पूर्वक उससे कहा था—"शर्मा, कैसा अच्छा होता कि हम इसी प्रकार जन्म भर एक दूसरे के साथ मिलकर अपनी जन्मभूमि की सेवा करते रहते।"

"ऐसा होने पर तो फिर मैं तुम्हारे साथ रहते-रहते तंग आ जाता।"

"क्यों, मैं क्या इतनी कुरूपा हूँ अथवा असभ्य ?"

"क्या मालूम, हमें तो तुम केवल एक अच्छी कार्यकर्त्री जान पड़ती हो। अब चलो, धीरेन्द्र को आज वर्मा मिल्स में मजदूरों के पास ले चलना है।" कहकर शर्मा एकदम उठ खड़ा हुआ।

उसी बात को ध्यान में रखते हुये एक दिन शीला ने शर्मा के स्वभाव का वर्णन करते हुये अपने दूसरे मित्र धीरेन्द्र से कहा था—"शर्मा बच्चों जैसा निरीह और शान्त है। स्त्रियों के प्रति तो मानों उसका वही भाव है जो कि शायद पत्थरों या वृक्षों के प्रति होता है। साथ रहते हुये भी उसने किसी दिन भी मेरी आँखों की ओर देखने की लालसा तक नहीं की।" उसी शर्मा को आज शीला में विचित्र आकर्षण दिखाई दिया। उसकी आँखें नील कमल सी उज्ज्वल ज्ञात होने लगीं। पहली ही बार उसे ज्ञात हुआ कि शीला नारी है, वैसी ही जैसी कि ऋचा।

उसने हँसकर कहा—"नहीं शीला जी, नारियों का तो हम आदर करते हैं। बात केवल इतनी है कि उन मुहल्लों में तुम्हारा जाना उचित नहीं होगा।"

"शर्मा जी, आज आपको यह अनुभव कैसे हुआ कि कोई ऐसी भी जगह है जहाँ मेरा जाना भी अनुचित होता है?" उसके होठों पर एक स्निग्ध हँसी फैल उठी। उसके मुख की छवि अत्यन्त मधुर हो उठी। शर्मा एकटक इस छविमान मूर्ति का मिलान एक ऐसी ही स्निग्ध मधुरिमामय प्रतिमा से कर उठा; वह शान्ति थी और यह क्रान्ति।

"अब कहो न शर्मा?"

"नहीं, मिस सोंधी, बात यह है कि वहां मजदूर शराब पीकर अत्यन्त अनुचित भाषा में अनर्गल वार्तालाप करते हैं।

वह तुम्हारे लिये किसी प्रकार भी सह्य न होगा।"

"किन्तु मैं अकेली तो होऊंगी नहीं, तुम भी साथ होगे। और फिर मुझे उन स्त्रियों में स्वतन्त्रता का उचित अनुचित के विवेक का प्रचार करना ही होगा। यह काम तुम कभी भी न कर सकोगे।"

"मिस सोंधी, ठीक ही कहती हैं, वर्मा उन्हें काम करने से तुम कभी भी न रोक सकोगे।"

"किन्तु जाने देना उससे भी अधिक कठिन है भाई।"

"तुम साथ जो होगे।" किसी ने पीछे से ताना मारा।

"कौन कहता है कि तुम मनु महाराज के युग से आगे बढ़ रहे हो? क्या यही नवयुग की तुम्हारी प्रगति है, मेरे प्रगतिशील साथियो? आप हंसते हैं जब "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी" पढ़ते हैं। बुजुर्ग लोगों की जब 'न स्त्री स्वातंत्र्य महति' की आवाज सुनते हैं, किंतु आप भी तो उसी का दूसरा उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं। आप पुरुष हैं इसीलिये आप इस अपने अधिकार का धक्काजोरी प्रयोग कर रहे हैं कि मुझे नारी समझ कर अपनी दुखी बहिनों की सेवा से रोक सकें। अधिक कहना व्यर्थ होगा, अतः कह रखती हूँ कि कल सन्ध्या समय मैं मजदूरों के मुहल्लों में जाऊँगी, अवश्य जाऊँगी। देखती हूँ कौन मुझे रोकने की हिम्मत करता है?" आवेश में उसका मुख कमल के समान लाल हो उठा। इस सुन्दर मुख की छवि अत्यन्त सुन्दर थी। परिस्थित सम्भालते हुए रवि शर्मा बोला—"अरे मिस सोंधी, आपको रोकने की शक्ति तो हम में है ही नहीं। अच्छा, आप चलें मुझे

कोई शंका नहीं है। आपका व्यक्तित्व अन्य नारियों से कहीं ऊंचा है।"

कार्यक्रम निश्चित हो चुका था। निश्चय हुआ कि कल सन्ध्या समय रवि और शीला कुछ मुहल्लों का निरीक्षण करके सभा के सम्मुख रिपोर्ट रखेंगे। उसी के आधार पर भविष्य का कार्यक्रम बनेगा। सभा में उपस्थित सब ही व्यक्ति शीला की कार्य कुशलता, उसके तेजस्वी स्वभाव और दृढ़ चरित्र को जानते थे। उसके कुशल नेतृत्व तथा बुद्धिमत्ता पूर्ण सलाह के बिना उनका कोई भी कार्य नहीं हो पाता था, यह उन्हें ज्ञात था।

सभा विसर्जित हो गई। शीला को चौबुर्जी से भी आगे जाना था। अन्य ऐसे अवसरों पर धीरेन्द्र उसे घर तक पहुँचा आता था किन्तु आज धीरेन्द्र वहां था ही नहीं। शीला पूछ बैठी—"शर्मा, न्यू होस्टल जा रहे हो न? मैं गोल बाग तक साथ चलूंगी!" ग्यारह बज चुके थे। शर्मा ऐसी सभा की बैठकों के बाद प्रायः तेजी से अकेले जाना ही पसन्द करता था, किन्तु आज बड़ी प्रसन्नता से बोला—"हाँ हाँ चलो, शीला जरूर चलो। चलो पहले तुम्हे ही छोड़ आऊं"

"नहीं, नहीं, वहां से मैं अकेली ही चली जाऊँगी, दूर ही कितना है?"

"देखा जायगा।" दोनों ने साइकिल चला दी।

"इस बार तुम छुट्टियों में कहां चले गये थे शर्मा? मैं कई बार तुमसे मिलने गई, लेकिन हर बार कमरा बन्द ही मिला।"

कहां गया था? सोचते ही शर्मा के मस्तिष्क में एक मधुर स्वप्न सा जाग उठा, "कितनी सरल थी रुचि'। नहीं, नहीं,

वह दुर्बल है, अशिक्षिता है। मेरी बगल में मेरे साथ ही चलने वाली नारी सौन्दर्य में भी उससे कम नहीं और फिर है शिक्षिता और तेजस्वी। कितनी शक्ति है इस नन्ही सी मूर्ति में, किन्तु वह भी तो अपने अज्ञात से व्यक्तित्व से सहमा देती थी। नहीं वह सहमना कहां था, वह तो मूर्खता थी।" मन ही मन सोचता गया रवि शर्मा।

"क्या सोच रहे हो शर्मा? छुट्टियों में कहां गये थे मैंने पूछा?" शीला का स्वर कुछ भारी था।

"शीला, तुमने उस घूंघर वाले बालों वाले मेरे मित्र को तो देखा ही होगा?"

"अरे, सत्येन्द्र? जो उस दिन भारतीय नारी की प्रशंसा कर रहा था डिबेट में?"

"हाँ, हाँ, वही, वही! उसी के घर मैं छुट्टियों में गया था।"

"किन्तु वह तो धनवान है, पूँजीवादी है, स्वभाव से भी अनुदार जान पड़ता है, उसकी तुम्हारी कैसी निभी?"

"खूब निभी शीला। वह मेरा अनन्य मित्र है। शायद घर वालों के पश्चात् वही एक ऐसा व्यक्ति है जिसे मैंने आज तक सबसे अधिक प्यार किया है।"

दृढ़ चरित्र एवं कठोर होने पर भी सोई हुई नारी शीला के रोम-रोम में जाग उठी। दर्प सर्वाङ्ग जल उठा। ईर्ष्या से भस्म होकर उसने कहा, "ओह।"

"सचमुच।"

"अच्छा अब मैं चलती हूं। कल सन्ध्या समय ७ बजे कॉफी हाउस में मिलना।"

उसने साइकिल तेज करदी। शर्मा की साइकिल धीमी चल रही थी।

"ठहर शीला, मैं भी तेरे साथ ही चल रहा हूं।" हवा में शब्द गूंज उठे।

"कोई आवश्यकता नहीं।"

ज्ञात नहीं यह नारी के अभिमान का स्वर था या निर्भयता का। कुछ भी हो, इसे निर्भयता की चरम सीमा ही समझकर शर्मा इस निर्भय रूपिणी नारी की सरल कोमल हंसी वाली 'ऋचा' से तुलना कर बैठा।

आकर्षण

"कल कहाँ रहे रात भर रवि ?"

"रात भर ? अरे भई, बारह बजे तो मैं यहां आ गया था।"

"अच्छा, मैं तो करीब पौने बारह यहाँ आया था, तब तो तुम नहीं थे, उसके बाद ही आये होगे ?"

"हाँ, हाँ, बाद ही आया था। जानते हो मैं कहां गया था सत्येन्द्र ?"

"और कहाँ, किसी सभा में गये होगे ?"

"हां, लेकिन यार, एक बात बड़ी अनिश्चित सी हो गई है। पता नहीं अच्छी होगी या बुरी ?"

"क्या हुआ ?"

"अन्दर चलो, कुछ सलाह भी करनी है, यार।" दोनों चुपचाप रवि शर्मा के कमरे में चले गये। कुछ देर के भयंकर मौन के पश्चात रवि स्वयं ही बोला—

"सत्येन्द्र, यह तो तुझे मालूम ही है कि मैं अपने दल के कार्य के लिये मजदूरों के मुहल्लों में फिरा करता हूं और कभी कभी तो बड़े असभ्य व्यक्तियों में जाना पड़ता है।..." चुप हो गया।

"यह तो मैं खूब जानता हूँ। एक दफा तो मैं भी तुम्हारे साथ गया था। माफ करना रवि ! तुम्हारा मजदूर सुधार तो

मेरी कुछ समझ में नहीं आता। अभी उसी दिन........."

"रहने भी दे यार, यह बात फिर कभी कह लेना। अभी तो मेरी बात सुन।" घबराहट के साथ धीरे २ रवि शर्मा ने कहा।

"कहो भी तो, ऐसी क्या बात है जिसके लिये इतनी लम्बी चौड़ी भूमिका की आवश्यकता है ?"

"अरे सुन भी, बात यह है कि कल बड़ी जबरदस्ती से लड़-झगड़ कर शीला ने भी मजदूरों के मुहल्ले में जाने की आज्ञा ले ली है।"

"ले लेने दो, फिर तुम क्यों घबरा रहे हो ? अरे और बत्तीस जगह जाती है, अगर वहां भी चली गई तो क्या होगा ?"

"नहीं, चिंता यह नहीं। चिंता की बात तो यह है कि वह मेरे साथ जायगी।"

"फिर क्या बात है यार, इतना घबरा क्यों रहे हो। वहां से काम कर-करा के पहुँच जाना कॉफी हाउस और फिर सीधे होस्टल। मैं कॉफ़ी हाउस में प्रतीक्षा करूंगा। फिर दोनों मिल कर ओपेन एयर थियेटर में चलेंगे। आज बड़ा अच्छा नाटक है।"

"तुम्हें तो हंसी सूझ रही है, यहां जान पर बनी है। भला उसे लेकर मैं मजदूरों के मुहल्लों में कैसे घूमूंगा। वह कुछ बकेंगे और फिर मुझे.....भाई मुझसे तो सुना न जायेगा।"

"क्यों, तुम तो कहते थे कि शीला कुछ भी कर सकती है। आज भला उसे मजदूरों में ले जाने में क्या हानि है ?"

"शीला युवती है, सुन्दरी है और मजदूर हैं असभ्य।"

"ओह ! आज तो कोई नई बात होने वाली है। भला

थार तुम्हें भी मालूम पड़ा कि शीला सुन्दरी है, युवती है।"

"नहीं, नहीं, यह बात नहीं। बात यह है......" रवि झेंप रहा था।

"अच्छा जाने दो, बात कुछ भी हो, फिर कह लेना।"

"तब फिर क्या करूं मैं ?"

"जाना ही पड़ेगा।"

"नहीं, नहीं, यह तो मुश्किल है। अरे वह तो शायद आ ही पहुंची। घंटी साफ सुनाई दे रही है। सत्य जरा उसे बाहर रोकना। मैं अभी जरा मुंह धोकर कपड़े बदल कर आता हूं।"

"अच्छा यत्न करता हूं।" व्यंग की हंसी हंस कर सत्येन्द्र बाहर चला गया।

रवि शर्मा जल्दी २ मुंह धोकर कपड़े पहनने लगे। किन्तु हृदय निरंतर धड़क रहा था। एक ही विचार उसकी हर धड़कन में गूंज रहा था। शीला अब उसके लिये केवल सहकर्मी मात्र ही नहीं है, वह इससे कुछ अधिक है; वह युवती है, सुन्दरी है; उसका रंग चमचमाते हुए चंद्रमा की तरह उज्ज्वल है। नहीं, नहीं, कवि न मालूम क्यों चंद्रमा की उपमा देते हैं। वह तो हिमश्वेत है किन्तु शीला तो गुलाब के फूल की तरह गुलाबी है। और उस पर दोनों काली आँखें तो भौंरों की तरह ही पड़ली हैं। जीवन में पहली ही बार रवि शर्मा को कवि की उपमा का महत्व सूझा। अनेकों बार उसने अनेकों प्रकार से कवियों को फटकारा था। पिछले मास ही जब सत्येन्द्र बड़ी कठिनाई से उसे अपनी कविता सुनाने का अनुरोध कर कवि सम्मेलन में ले

गया तो वह बड़ी कठिनाई से बैठकर सत्येन्द्र की कविता तक न सुन सका।

सत्येन्द्र कह रहा था—

ओ चिर निरीह तपसी किसान।
तूने त्यागों से भरी मही, चिर जीवन और युग युग के प्राण,
सहकर सदैव मूक अत्याचार, क्या कभी सका तू उनको जान,
ओ चिर निरीह तपसी किसान॥

रवि शर्मा क्रोध से जला जा रहा था। यह मूक निरीह किसान अत्याचारों को सह कर भारत का उद्धार करेंगे। महात्मा गांधी का वह सम्मान अवश्य करता था किन्तु महात्मा गांधी की अहिंसात्मक नीति से भारत को स्वराज्य मिल सकेगा यह उसने कभी एक क्षण को भी न सोचा था। क्रान्ति उसका ध्येय था और मजदूर उसका लक्ष्य। किसानों से उसे ऐसी ही सहानुभूति थी जैसी कि किसी स्वस्थ पुरुष की रोगी से होती है। जैसे तैसे क्रोध को रोक कर सत्येन्द्र की कविता तो वह सुन गया किन्तु जैसे ही कविवर प्रयोगी ने अपना राग अलापा—

कमल नयनी व्योमवासिनी······

वह एकदम उठ खड़ा हुआ। कमल नयनी में उसे कुछ भी सात्विकता, कुछ भी सत्य, कुछ भी जीवन ज्ञात न हो सका। लड़के उसे लीडर जान कर डरते भी थे किन्तु रसविहीन कहकर कवि-सम्मेलनों, साहित्य-गोष्ठियों में उसकी हँसी भी होती थी। और वह हँस कर अपने आपको 'अ-रसिक' कहा करता था। किन्तु आज उसकी इच्छा हो रही थी कि वह कविता फिर से सुन सके। कंघी बालों पर फेरते हुए वह गुनगुनाने लगा—

"क्या जाने क्या जादू है इन मतवाली दो आँखों में।"

किन्तु शीला मानों मूर्ति रूप में उसे एक ओर सुन्दरी की याद दिला रही थी। ऋचा, उसके अनजाने ही हृदय ने कहा पूजा की वस्तु है, छूने की नहीं। मन्दिर की प्रतिमा की ओर मानव आँख भर कर देख नहीं सकता, केवल श्रद्धा भर दे सकता है। किन्तु यह शीला तो मानों अपनी ही वस्तु है। उसे याद आई वह रात जब चाँद की छाया में यह और शीला साइकिलों पर माडल टाउन से नगर आ रहे थे। यकाएक शीला की साइकिल ठहर गई। शीला दर्द से कराह रही थी, उसका अँगूठा शायद पैडल में फँसकर मुड़ गया था। मैं हँसकर बोला—"शीला, मैं चलता हूं। तुम आ जाना।"

"नहीं, नहीं, शर्मा ठहरो मैं चलती हूँ।" और वह फौरन ही चल पड़ी। जल्दी-जल्दी पैडल मार कर मेरे निकट आकर उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—"शर्मा! क्या तुम मनुष्य नहीं हो?"

"क्यों?" शर्मा चौंक पड़ा।

"एक स्त्री तुम्हारे लिये इतनी उपेक्षा की वस्तु है कि वह कराहे और तुम साधारण रूप से बिना रुके ही चल पड़ो।" और हँस दिया था।

आज यदि वैसा ही दिन होता, चाँदनी होती और अचानक उसका हृदय मचल उठा ऋची से मिलने को। कितनी सहमानी वाली कान्ति है, कितना रूप है? शीला सुन्दरी है किन्तु ऋची स्वयं सौन्दर्य। किन्तु कितनी कर्मण्य है यह शीला, कितनी शक्ति है इसमें और कितना तेज।

"शर्मा, चलना नहीं है क्या?" स्वयं शीला रवि शर्मा की विचार धारा तोड़ती हुई द्वार पर खड़ी थी। रवि विचारों

में उलझ कर कंघी करना भी भूल गया था। जल्दी-जल्दी दो चार हाथ बालों पर फेर कर वह कमरे से निकल गया। शीला भी साइकिल हाथ से पकड़े ही चलने लगी। गवर्नमेंट कालेज तक पहुँचते-पहुंचते दोनों साथ हो गये।

"शीला ! अब तो धूप तेज होने लगी है ?"

"जी हाँ, लेकिन क्या आप अभी से घबड़ाने लगे ?"

"नहीं, नहीं, रवि शर्मा को आज तक काम से घबड़ाते किसी ने नहीं देखा, शीला ?"

"सो मैं जानती हूं शर्मा।"

काम करते समय कोमल शरीर वाली शीला अत्यन्त कठोर बन जाती थी। निजी सुख दुःख उसके लिए कल्पना मात्र ही रह जाते थे, यह शर्मा भी खूब जानता था।

दोनों चुपचाप चले जा रहे थे। शीला की विचारधारा मन ही मन बह चली—"कैसा विचित्र है यह युवक। मानों पृथ्वी के कण-कण से निराली किसी और ही धातु का निर्मित हो। सुख, दुःख, ईर्षा, द्वेप सबसे परे मानों विधि ने इसे गढ़ा है। और फिर कितना अद्भुत है इसका रूप ? कैसी है इसके नेत्रों में ज्योति ? मैं तो इन्हीं श्री चरणों पर, इस अदम्य साहस पर, सब कुछ न्योछावर कर देती किंतु कठोर है इसकी उदासीनता। पिछले कुछ दिन जब मैंने इसकी ओर ताकना भी छोड़ दिया था और किशोर के साथ ही काम करती, हँसती खेलती थी तो भी यह इसी तरह उदासीन था, शान्त था। एक दिन जब किशोर ने छेड़ ही दिया—'शर्मा तुम्हारी साथिन तो मैंने छीन ली।' तो कैसे हंसकर बोला—'मुबारिक हो।' कैसा है यह व्यक्ति ? किंतु इसमें यह आकस्मिक परिवर्तन कैसा ?

अब तो मानों मेरी ओर दृष्टि भर देख नहीं पाता ?" शीला का हृदय कुछ आशंकित सा हो उठा। वह नहीं चाहती थी कि असाधारण कर्मठ शर्मा साधारण बन उठे।

रवि सोच रहा था कौन सी यथार्थ नारी है ? दुस्साहस की साक्षात प्रतिमा, कठोर नियम की पुतली यह शीला या कोमल पर सहमाने वाली सुंदरी ऋचा ? रवि हृदय की समस्त अनजान विभूतियों सहित उस सहमाने वाली सुन्दरी के दर्शनों को लालायित हो उठा। यद्यपि वह सम्पूर्ण शक्ति से शीला के ही पक्ष को मन ही मन प्रबल करना चाहता था।

दोनों एक दूसरे से चौकन्ने से होते जा रहे थे।

थककर शीला ने ही मौन तोड़ा—"कितनी दूर और जाना है शर्मा ?"

"थोड़ी दूर।" कुछ चौंकते हुए शर्मा ने बड़ी कठिनाई से कहा।

"तुम अपने मजदूर मित्रों से मेरा क्या कह कर परिचय दोगे ?"

"क्यों, कह देंगे यह भी एक हमारी मित्र है।"

उसकी सरलता पर हंसते हुये शीला बोली—"शर्मा, यह भारत है।"

"ओह, यह बात है, अच्छा फिर बताओ तो क्या कहें ?" इस बार शर्मा कुछ कुटिलता पूर्वक मुस्कराया।

शीला झेंप गई यद्यपि उसे आश्चर्य हुआ कि शर्मा भी हंसी कर सकता है। कुछ सम्भलकर शीला बोली,—"तब फिर कह देना कि साथी है।"

"साथी ? जीवन साथी ?" अचानक कह चुकने के

पश्चात् शर्मा स्वयं घबरा गया। शीला अपने आपको बहुत कुछ सम्भाल चुकी थी। हंसी में टालने के विचार से बोली,—"क्या हानि है ?" किंतु शर्मा में उत्तर देने का साहस ही न था ? साइकल के जल्दी २ पैडल मारते हुए कुछ आगे निकलने लगा।

शीला मन ही मन हंसने लगी। कितना सरल है यह व्यक्ति ? ऐसी हंसी तो न जाने कितने निकम्मे कालिज के छात्र प्रतिदिन हम सौंदर्य मूर्त्तियों से करते हैं। फिर इसमें इतना झेंपना क्या ?

"शर्मा धीरे चलो। मैं तो इतनी जल्दी साइकिल न चला सकूंगी।"

साइकिल की चाल अवश्य धीमी हो गई, किंतु शर्मा फिर उस दिन कुछ भी न बोला। रात्रि के आठ बजे होस्टल द्वार के पास कुछ रुककर शर्मा इतना ही कह सका—"मिस सोंधी, धृष्टता के लिये क्षमा।"

शीला खिलखिला उठी—"शर्मा, मैं घर की अँधेरी में घुटने वाली असूर्य स्पर्शी लक्ष्मी नहीं, माँ की आजादी के लिये लड़ने वाली एक सच्ची कार्यकर्त्री हूँ। मेरा अपमान इतनी जल्दी २ नहीं होता।"

शर्मा बिना बोले अन्दर चला गया। शीला शंकित मन लेकर धीरे-धीरे गोलबाग के पास वाली सड़क पर साइकिल चलाने लगी। शर्मा की सरल मूर्त्ति को जो कि उसने आज ही देखी थी, वह हजार नेत्र से देखने का यत्न कर रही थी। वह वीर है और यह वीरता की पुजारिन कुछ पुराने समय की हिन्दू जाति द्वारा खेली जाने वाली गुड़िया नहीं। जहां प्रकृति ने उसे नारी बना कर सृष्टि में भेजा है वहां उसके धड़कते सीने के

भीतर हृदय भी रख दिया है। उस हृदय में कोमलता भी है और सरसता भी। वह प्रेम कर सकती है और करेगी; देश के देवता, सच्चे चिरभक्त को ही प्रेम करेगी। उसका प्रेम माता-पिता का सौदा नहीं वरन् उसका मुक्त दान होगा। और वह, दान अवश्य करेगी। उसे आशा है कि उसे प्रतिदान मिलेगा ही। रास्ता मिनटों में समाप्त हो गया। शीला बिना कुछ कहे सुने सीधी अपने कमरे में शृंगार मेज के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई। दिन भर के श्रम से थका हुआ उसका आरक्त मुखमण्डल उसे स्वयं ही ईर्षा करने योग्य वस्तु ज्ञात हुआ। वह प्रसन्नता से वस्त्र बदले बिना ही पलंग पर जा लेटी। खाने की उसे तनिक भी इच्छा न थी। यद्यपि उसकी आज्ञानुसार खाना ढका हुआ टेबिल के एक कोने पर रखा था। किसी के आने की आशंका तो थी नहीं। माँ ने तो पिछले तीन चार महीनों से कुछ कहना ही छोड़ दिया है। ग्रामोफोन पर—"हमारी नगरिया में आय बसो बनवारी" लगाकर उसने सब दरवाजे बन्द किये। क्षण भर बिस्तरे पर पड़ी रही। "...सुखदाई..." सुनते सुनते ही न मालूम शीला कब सो गई।

रवि शर्मा तो उस रात प्रायः सो ही न सका। शीला और ऋचा मानों दो चुम्बक होकर उसे अधर में ही लटकाये रखना चाहती हैं।

गृहलक्ष्मी

"अरी राधिके, अब क्या सारे दिन बैठे बैठे कृष्ण का ही ध्यान किये जायेगी ?"

"किसके कृष्ण का ? तुम्हारे भाभी ?"

"रहने दे, मेरा कृष्ण तो कभी मुझे छोड़कर दस पग भी नहीं जाता, मथुरा की तो बात ही क्या ? उन्हीं का ध्यान कर रही होगी, जो चले गये हैं।"

"हाँ, कर तो रही हूँ, तुम तो बड़े भइया के सिवा और किसी की याद ही नहीं रखती; लेकिन मुझे तो अपने छोटे भइया भी याद आते हैं।"

"हाँ और छोटे भइया के प्रिय मित्र भी ?"

"देखो भाभी, तुम व्यर्थ छेड़ा न करो ?"

"अरी लल्ली, नाराज क्यों होती हो ? काम तो फिर उन्हीं से पड़ना है।"

"तुम्हें पड़ना होगा ?"

"और तुम्हें नहीं, लाड़ो। भोली न बनो। भइया तो बहिन के लिए वर ढूँढते फिरते हैं और बहिन तिनकती फिरती हैं। मुझे क्या है ? कह दूँगी। भई तुम्हारी बहिन तो सीधे मुँह बोलती भी नहीं।"

"मैं जाती हूं भाभी" गोदी के ढेर सारे फूल गिराती हुई ऋचा सचमुच ही उठ खड़ी हुई। शिखा ने जबरदस्ती पल्ला

खींचकर उसे बिठा लिया। आज उसे किसी तरह भी ऋचा को अप्रसन्न न होने देना था। उस पर एक अत्यन्त गुरुतर भार जो आ पड़ा था। कल रात ही उसने ऋचा के बड़े भइया से कहा था, "क्यों जी, रिची के विवाह की भी कुछ चिन्ता है कि नहीं?"

"क्यों मां जो अभी बैठी हैं, वह स्वयं ही कुछ करेंगी।"

"नहीं, नहीं, वह तो कुछ भी न करेंगी। उन्हें तो अब भगवद्-भक्ति के अतिरिक्त कुछ अच्छा ही नहीं लगता। अभी उसी दिन मुझ से कहने लगीं, बेटी, रिची अब तक तेरी ननन्द जैसी थी किन्तु अब तेरी बेटी हो गई। मुझे तो जो दो चार महीने और जीना है श्री गोविन्द से ही नाता करके जियूँगी। अब मेरा और किसी से कोई नाता नहीं रह गया। तू ही इसे सम्भाल चाहे ननद जान कर और चाहे पुत्री जान कर और चाहे अनाथ ब्राह्मण कन्या मानकर।"

"ओह, अच्छा तो फिर विवाह की बात सोचनी ही पड़ेगी। लेकिन रानी इतनी जल्दी क्या है? अभी तो ऋचि छोटी सी है।"

"लेकिन विवाह के लिये वर ढूँढना भी तो एक समस्या है। उसमें भी कुछ समय लगता ही है।"

"अच्छा, फिर देखा जायेगा।" पति की लापरवाही, स्वाभाविक आलस्य और ऋचा की इधर कुछ बढ़ती हुई उदासी ने शिखा को अत्यन्त चिंतित कर रखा था। कुछ याद करती हुई सी बोली—"अच्छा, एक बात कहूँ।"

"कहो, क्या कहती हो?" दूसरा पान मुँह में रखते हुए गृहस्वामी बोले।

"आपने सत्येन्द्र के इस नये मित्र रवि शर्मा के विषय में आपने कभी विचार किया है ?"

"क्यों ? क्या उससे ऋचा का विवाह करने का विचार है ?"

"क्यों क्या हरज है ? लड़का योग्य है और सुशील भी।"

"धनी तो नहीं है। ऋचा को घोड़े, गाड़ी और आराम के सामान कहाँ मिलेंगे ?"

"ऋचा धन की भूखी नहीं। उसे मां ने शिक्षा दी है। उसे प्रेम संसार की अन्य सभी वस्तुओं से अधिक प्रिय होगा और फिर भी वह हिन्दू लड़की है।"

ऋचा का हार्दिक गुप्त झुकाव यद्यपि कुछ-कुछ शिखा पर प्रकट होने लगा। किन्तु वह उसकी ओर संकेत न कर सकी।

"अच्छा भई, फिर ऋचा से भी पूछ लो। यदि माता जी, तुम और ऋचि सहमत हो तो सत्येन्द्र को लिख दो, रवि से भी पूछ ले। मुझे भला क्या आपत्ति हो सकती है ?"

शिखा ने शान्ति की साँस ली। कहा जाता है हिन्दू परिवार में बालिका की सम्मत्ति विवाह के सम्बन्ध में ली ही नहीं जाती। किन्तु प्रायः भाभियों की छिपी दबी किन्तु ताड़ने वाली निगाहें नन्हीं निष्कपट बालिका का हृदय पहिचान ही जाती हैं। यही गुरुतर कार्य आज शिखा को करना था। शिखा ऋचा को हृदय से प्रेम करती थी। उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा ऋचा को सुखी देखना ही था। जब से रवि शर्मा यहाँ से गया है, वह प्रायः कुछ सोचती सी रहती है। रवि की बात होने पर कुछ चौंक सी भी जाती है। सत्येन्द्र को प्रायः पत्र भी दुगने चाव से लिखती है। अपने बड़े भइया से नगर चलने के लिये भी

कह चुकी है। शिखा इन सब बातों पर दृष्टि रखे थी। उसे चिंता यही थी कि वह कुछ अनुचित न कर जाय। इधर ऋचा भी कुछ कह न सकती थी।

"अब हमारे पास और कितने दिन रहेगी ऋचा? अपनी रानी बहिन को चार दिन के लिए अप्रसन्न क्यों करूँ भला?" उसने स-हास्य कहा।

"भाभी मुझे कहां भेज रही हो? मैं तो यहीं तुम्हारे पास रहूँगी।"

"क्यों बीबी? मैं कहीं से अपने भाभी, भाई, माता, पिता छोड़कर तुम्हारे घर नहीं चली आई? इसी तरह तुम्हें भी कोई श्यामसुन्दर चतुर नागर हर ले जायेगा और फिर कभी भी यहाँ आने का नाम तुम स्वयँ ही न लोगी।"

"हटो परे।" इस बार ऋचा की आँखें गीली थीं।

"अच्छा एक बात बता दे, फिर कुछ न कहूँगी।"

"पूछो।"

"तुझे रवि पसन्द है?"

ऋचा ने लज्जा से भाग जाना चाहा लेकिन भाभी पकड़े जो बैठी थी।

"अरी भाभी से भी कोई लज्जा करता है। यह लज्जा तो रवि को दिखाना, बिचारा समझेगा बड़ी सीधी है।" परिहास ऋचा को अत्यन्त कठोर लगा। वह पल्ला छुड़ा कर भाग गई।

शिखा कुछ निश्चय न कर पाई। केवल थोड़ा सा मुस्करा भर दी। उसने मन ही मन सोचा—"देखूँ? गृहलक्ष्मी का कठिन कर्तव्य पूरा कर पाती हूँ या नहीं?"

जगतेन्द्र बड़ी देर से बुआ को हवेली में ढूँढ रहा था।

आखिर न पाकर बाग में ही आ गया। शिखा ने उसे गोद में उठा कर कहा—"भइया, तेरी बुआ तो कहीं झाड़ियों में छुप गईं, जा ढूँढ ला, तब तक मैं मां को यह फूल पूजा के लिए दे आती हूँ।"

शिखा धीरे धीरे पैर रखती हुई चली गई।

ऋचा के जीवन में नवीनता का प्रवेश हो रहा था। रवि उसे कोई नवीन व्यक्ति जान पड़ा था। बड़े भाई और सत्येन्द्र के अतिरिक्त वह संसार के और किसी व्यक्ति को जानती ही न थी। रवि ने उसके जीवन में आकर एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न कर दी। कैसा तेज है इस क्रान्ति में। भइया के विशाल नेत्रों की सी शान्ति इसमें नहीं है वरन कठोर क्रान्ति है, दृढ़ प्रतिज्ञा है। नारी अनजाने में ही इस कठोरता पर मर मिटती है। जो उसके चरणों में गिरता है नारी उस दुर्बल प्राणी को सहारा देती है, सहानुभूति देती है। दया भी देती है, किन्तु प्रेम केवल उसे ही मिलता है जो दृढ़तापूर्वक उसे जीत लेता है, जो गिरता नहीं वरन् जिसमें उठाने की शक्ति होती है। इसी नव शक्ति ने ऋचा के हृदय में नवांकुर उत्पन्न किया। भाभी के अप्रत्याशित प्रस्ताव ने तो उसे मानो जागृत ही कर दिया। वह अनजाने में ही स्वप्न देखने लगी। भइया के साथ ही साथ भइया के मित्र की प्रतिमा भी अचानक उसके स्वप्नलोक में कभी कभी आने लगी, लेकिन भला वह भाभी के प्रश्न का उत्तर कैसे देती। वह हिन्दू बालिका है, हिन्दुत्व की उच्च मर्यादा तो उसे निभानी ही पड़ेगी, भले ही उसका मूल्य उसे अपने हृदय रक्त के साथ देना पड़े। हिन्दू नारी के अनुपम त्याग दायरे से बाहर तो वह किसी तरह भी न जा सकेगी। यही उसके लिए चरम सत्य है।

स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा तो यही है कि स्वयं अपने बन्धनों की सृष्टि कर सके। संसार की कौन सी शक्ति इस नन्हीं सी बालिका को महिला जगत की जागृति का पाठ पढ़ाकर हृदय का भेद कहने को बाध्य कर सकेगी।

सुधारवादी

"जागृति, नवयुवक में नवयुग की चिर युवती जागृति का प्रादुर्भाव ही जीवन है। भारत की स्वतन्त्रता स्वप्न की सी अलभ्य वस्तु नहीं किन्तु चिर प्राचीनता के संक्षिप्त दायरे में मिलने वाली वह वस्तु नहीं है, नवीनता के प्रकाश में ही हम उसे पा सकते हैं......।"

कुमारसभा के वार्षिकोत्सव पर नवयुवकों के चिर परिचित विनयकुमार उल्लास से भरकर नवयुवकों को जागृति का सन्देश दे रहे थे। मुख पर यौवन तथा ब्रह्मचर्य का तेज, आंखों में प्रखर दृष्टि तथा तीव्र ज्योति खेल रही थी। टेनिस तथा हाकी के सर्वोत्तम खिलाड़ी के नाते इसी सभा ने अनेकों बार उनका स्वागत किया था। गत वर्ष योरप की लम्बी यात्रा करने के पश्चात् आई० सी० एस० की परीक्षा में सर्वप्रथम आकर भारत लौट आये थे। योरप की जागृत जातियों के रहन-सहन ने आपको भी मजदूरों के सुधारों का पक्षपाती बना दिया था। किसी हद तक आप नवयुग एवं उदार विचारों के समर्थक भी थे। आपने योरुप में अनेक वर्ष बिताये थे। आत्मा और परमात्मा दोनों ही आपकी दृष्टि से मिथ्या हैं, कपोल कल्पित हैं। सुनहरे चश्में के भीतर से दो उज्जवल नेत्र झांक रहे थे।

धीरे से रवि शर्मा का हाथ दबाकर सत्येन्द्र ने कहा, "यार, बोलता तो खूब है।"

"हां, किसी दिन तुमसे भिड़ा दूं ?"

"अरे नहीं, मैं तो तुमसे ही नहीं जीत पाता, यह तो कोई बड़ा ही कट्टर उदार विचारों का व्यक्ति है।"

"तभी तो कहता हूँ एक दिन मिल ही लो ना ?"

"यही सत्य का चिर रूप है। सत्य है केवल विज्ञान। मनुष्य चिरकाल से इसी सत्य की उपेक्षा करता है, इससे घबराता है क्योंकि इसका सामना करने की शक्ति उसमें नहीं......।" विनयकुमार कह रहा था।

"इससे परिचय करने की इच्छा तो होती है।"

"तुम्हारे ही इलाके में काम करता है, मजदूरों में क्रान्ति भी फैलाता है तथा उनसे व्यवहार भी बड़ा ही भला करता है।"

"छुट्टियों में जाऊंगा तो मिलने का यत्न करूंगा।"

व्याख्यान समाप्त हो गया। धन्यवाद के पश्चात् सभा भी समाप्त हो गई।

"अब चलोगे भी या नहीं ?" कन्धा पकड़ कर सत्येन्द्र बोला।

"हाँ चलो" चौंक कर रवि शर्मा ने कहा।

साइकिलें उठाकर दोनों चल दिये।

"यार सत्येन्द्र, छुट्टियों में घर जा रहा है क्या ?"

"हाँ, भाई साहब ने बुलाया है और लिखा है कि तुम्हें भी अवश्य लाऊं।"

"नहीं, नहीं, मैं तो न जा सकूंगा। इधर कई काम अटके हैं और मजदूरों के मुहल्लों का काम भी तो आरम्भ कर दिया है।" अनजाने ही रवि शर्मा के मानस चक्षुओं के सम्मुख दो बड़े-बड़े नेत्र आ खड़े हुए। वह घबरा गया।

"भाई, तुम्हें तो मैं लेकर ही चलूंगा, बहाने न चल सकेंगे।"

"इच्छा तो मेरी भी है सत्य, कि कुछ दिन विश्राम कर लूँ, किन्तु काम भी तो हैं।"

"बात यह है रवि···।"

"कहो भाई, चुप क्यों हो रहे ?"

"फिर कभी कहूंगा।" होस्टल के द्वार पर साइकिल से उतरते हुए सत्येन्द्र ने कहा।

ज्ञात होता था कि कोई बात उसके हृदय से निकल पड़ने को मचल रही है किन्तु बरबस उसे वह दबाये जा रहा है।

रवि शर्मा कुछ अनमना सा हो रहा था। यूँ ही कुछ हँस कर उसने कहा—"तुमने सीक्रेटस रखने कब से शुरू कर दिये सत्य ? अच्छा खैर फिर कभी ही सुनूँगा। इस समय मुझे कई आवश्यक पत्र लिखने हैं।"

"सन्ध्या समय नहर पर स्नान करने चलोगे रवि ?"

"देखो सत्य, मुझे इस समय एकान्त की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि सन्ध्या तक मेरा मन कुछ स्वस्थ हो सका तो मैं स्वयं तुम्हें बुला लूंगा, अन्यथा तंग न करना।"

झपटता हुआ रवि भागकर चला गया।

सत्येन्द्र के लिये यह कोई नवीन बात न थी। अक्सर रवि इसी प्रकार अनमना हो उठता था। सत्येन्द्र भी उस समय उसे पूर्ण एकान्त देकर निश्चिन्त हो जाता था। ऐसे अवसरों पर वह कभी रवि की मानसिक अवस्था जानने का हठ नहीं करता था, यही उसकी पुरानी आदत थी। सत्येन्द्र बिना कुछ कहे अपने कमरे में चला गया। कमरा बन्द करके उसने फिर एक

बार भाभी का पत्र पढ़ा। पढ़कर कुछ चिन्तित हो पत्र रख कर आराम कुर्सी पर लेट रहा।

अच्छा तो होगा, ऋचा को अत्यन्त सुशील तथा योग्य वर मिलेगा, यदि यह विवाह हो जाये। रवि शर्मा के समान सच्चरित्र युवक तो सम्भवतः सारी युनिवर्सिटी में भी कोई न होगा? उस जैसा परिश्रमी, दीन दुःखियों का सहायक और समानता के विचारों का समर्थक भी शायद ही कोई मिले। उसके निजी जीवन में स्वार्थ को तो मानों कोई स्थान ही नहीं है। है केवलमात्र देश सेवा, देशोन्नति की धुन। भले ही सत्येन्द्र के निजी विचार रवि शर्मा के विचारों और कार्य प्रणाली से न मिलते हों, किन्तु रवि शर्मा के निस्वार्थ त्याग और देश प्रेम का मूल्य सत्येन्द्र आँक पाता था। किन्तु विचार धारा रुक गई।

विचार शृंखला सम्भवतः ही न रुकी होती, यदि द्वार पर शब्द न हुआ होता?

दो

परीक्षा में फेल हो जाने पर भी शीला ने अपना अध्ययन जारी ही रखा। मास की पहिली तिथि को यथा नियम कालेज के बिल के रुपये दे देने के अतिरिक्त उसकी माता शीला के अन्य किसी भी कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालती थी। गांव की साधारण सी लड़की लाहौर में रह कर भी स्वभाव में विशेष परिवर्तन न ला सकी। कभी एक आध बार शीला के अनुरोध पर लेडीज क्लब भी जा चुकी हैं, किन्तु विशेष प्रेम प्रायः घर से ही रखती हैं। अचानक शीला के कमरे से उस दिन दो मिश्रित स और प स्वर में कण्ठ स्वर सुन कुछ विचलित हो उठीं। कुछ समीप आने पर स्पष्टतः भास हुआ कि शीला अत्यन्त कठोर स्वर में किसी से बातचीत कर रही है।

मधुर स्वर में पुरुष ने उत्तर दिया—"शीला, तब वह सब स्वप्न क्या एकदम भुला देने पड़ेंगे ?"

"विनय बाबू, शीला किसी भी पुरुष के हाथों की कठपुतली न बन सकेगी।"

मां का हिताकांक्षी हृदय दुःख और क्षोभ से भरकर आशंका से कांप उठा।

"शीला, मैं कठपुतली नहीं, तुम्हें रानी बनाना चाहता हूँ। तुम मेरे हृदय की रानी बन कर रहना, राजरानी।"

"शीला इन मधुर स्वप्नों में न भूल सकेगी विनय बाबू।

आप चाहें जितने भी बड़े आदमी, दार्शनिक बनने का दम भरें, क्या इस राज्य की नौकरी के प्रबल प्रलोभन को छोड़ सकेंगे ? शीला गरीबों की साथी है, उसे धनी पूंजीपति की पत्नी कहलाना भला न लगेगा। धनी की गोद शीला का विश्रामस्थल न होगी। उसे किसान की झोंपड़ी चाहिये, राजमहल नहीं विनय बाबू।"

मां का आहत हृदय कोमल गद्दे वाली कुर्सी पर बैठी सर पर निरन्तर घूमते हुये पंखे की हवा से आनन्दित प्रिय यह दुर्दमनीय पुत्री के विचार सुनकर एक बार फिर से कांप उठा। वह उनके भीतर निहित महत्व ग्रहण न कर पाई। "शीला, मैं नौकरी छोड़ दूंगा। तुम एक बार मेरी बन जाओ। मैं तुम्हारे एक संकेत पर मिल मजदूर भी बनकर दिखा सकता हूँ। शीला याद करो अतीत की सुन्दर स्मृतियां।"

अन्तिम वाक्य ने मां के हृदय को भयंकर आशंका से आशंकित कर दिया। घबराहट में आंखों से बहते हुये आंसू पोंछना भी भूल गई। कानों में निरन्तर कोई पिघला हुआ गरम शीशा घोलता जा रहा था।

"सो तो शायद आप करलें विनय बाबू। किन्तु मैं योरुप के जीवन से परिचित हो चुकी हूं। समान अधिकार का पाठ भी पढ़ चुकी हूं। एक अपढ़ स्त्री की भाँति चूल्हा चौका मेरे लिये न हो सकेगा। मुझे देश के महान् उद्देश्य की पूर्ति करनी है। आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के मैदान में मैं भले ही मुस्कान सहित उतर पड़ूं किन्तु दम घोटने वाली चहारदिवारी में बन्द होकर मुझ से न रहा जायेगा। अपनी वर्तमान कार्य प्रणाली भी मैं न बदल सकूंगी और फिर यदि मैं आपके साथ न निभा सकी तो पाश्चात्य दाम्पत्य जीवन के गौरवपूर्ण अन्त, विवाह

विच्छेद का उदाहरण भी मेरे सम्मुख होगा। उसे मैं सहज ही भुला न सकूंगी। नारी पर किये गये अत्याचारों को मूक रहकर सह सकने की शक्ति और किसी में हो, तो भले ही हो, एक मुझ में नहीं हो सकती।"

अधिक न सह सकने के कारण मां चुपचाप अस्थिर मन कमरे में आकर ढीली सी चारपाई पर पड़ रही। यही उनका कमरा था, उनके स्वामी का कमरा था, सारे घर का कमरा था। सुख के दिनों में यहीं उन्होंने उल्लास बहार की थी, दुःख के दिनों में यहीं वह पति से मुख छिपाकर आंखों पर आंचल डाल आंसुओं से भर रोई थीं। देवता की मनौती और पड़ोसन से बातें भी यहीं की थी किन्तु एक दिन कन्या के शब्दों को लेकर हृदय दबाकर अन्धकार में यहीं आकर डूब जाना होगा, यह उन्होंने किसी दिन भी न सोचा था। पति ने कहा था 'शीला देश का काम करती है। देश की कुरीतियों से निकलकर संसार की गति के साथ चलना ही होगा।' भोली पत्नी ने आंख मूंद कर ग्रहण कर लिया था किन्तु नारी पुरुष के साथ इस लज्जा जनक विषय पर माता पिता के मध्यस्थ हुये बिना ही बातें कर सकती है, यह उस देहात की लड़की के अनुभव तो क्या, कल्पना से भी परे की बात थी। पति का क्रोध, प्रेम और कठोरता उसने देखी थी किन्तु नारी पति को त्याग भी सकती है यह उसके लिये आश्चर्य नहीं दुःख का विषय था। कुछ देर स्थिर होने के पश्चात, मां ने शीला के कमरे में प्रवेश किया।

"कहो मां, तबियत तो ठीक है ना ?"

"हाँ, तू अब फिर कहां जा रही है ?"

शीला दर्पण के सम्मुख खड़ी जूड़ा ठीक कर रही थी,

मद्रासी रेशम की सुनहरे किनारे वाली सफ़ेद साड़ी शरीर पर अस्त व्यस्त पड़ी थी। मां ने आज अनेक महीनों पश्चात् पुत्री से इस प्रकार प्रश्न किया था।

"एक मीटिंग है माँ, वहीं जाना है। सन्ध्या तक आ जाऊंगी।" उदासीनता से शीला बोली।

"आज न जाने से नहीं बनेगा क्या? मुझे जरा तेरी गंगा मौसी के घर तक जाना है। कुछ जरूरी काम है।"

"लहरिया को लेकर चली जाना मां। मेरा तो ठहरना नहीं हो सकता।"

"शीला, लहरिया तो अब रात को आयेगी। मुझे जरूरी जाना है, तू आज न जा।"

"यह कैसे हो सकता है मां? मुझे तो ठहरने का समय नहीं है। आज का ऐजेन्डा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"

"फिर मैं क्या करूं, मेरे प्रति भी तो तेरा कोई कर्तव्य है?"

"अच्छा मां, आज तो जाने दो, भविष्य में जब तुम कहोगी तो रुक जाया करूंगी।" शीला ने मिन्नत से कहा। माता पुत्री दोनों के हृदय जल रहे थे। विनय की बातचीत से शीला अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थी। उसे आज रवि शर्मा से अवश्य ही मिलकर हृदय की स्थिरता प्राप्त करनी थी। जीवन के लिये कुछ निश्चय भी करना था। फिर, आकर्षण भी तो प्रबल है। वह तो कोई अशिक्षित स्त्री है नहीं जो घुट २ कर हृदय की भावनाओं का अन्त होना ही श्रेयकर समझे। उसे तो वास्तविकता से परिचय करना ही अधिक सजीव ज्ञात होता है। फरौयड की साइकौलोजी भी उसने पढ़ी है। भावनाओं के

दबाने में उसका विश्वास नहीं, उनकी पूर्ति में है ।

उधर पुत्री के विचारों ने मां के हृदय में भयंकर प्रलयाग्नि जला दी है। वह किसी प्रकार भी पुत्री को अब उस विषैले वातावरण में न जाने देगी। उसका विवाह भी शीघ्र ही कर देना होगा। दोनों ही अपने निश्चय पर दृढ़ सी हो उठीं। शीला की इच्छा मां के साथ तर्क-वितर्क करने की न थी। उसके मन की अवस्था वैसी न थी।

"नहीं, आज तो मैं तुझे न जाने दूंगी।"

"मां, जाने दो, आज तुम्हें यह कैसी हठ चढ़ी है ? मुझे देर हो रही है।" स्वर में अनुनय था, विनय थी।

"देख शीला, तू अब से वहाँ न जा पायेगी। बात बढ़ा-कर मुझे दुखी न कर।"

"देखा जायेगा, किन्तु क्षमा करो मां, आज तो मुझे जाना ही पड़ेगा।" कर्तव्य परायण शीला की कल्पना से भी परे था आवश्यक बैठक में न जाना। उसे माँ से स्नेह था, किन्तु बुद्धिवादी शीला बिना समुचित कारण जाने हुये कैसे बैठक छोड़ सकती थी।

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही शीला द्वार खोल कर साइकिल उठा चल दी।

अवाक मां अधिक समय तक खड़ी न रह सकने के कारण वहीं बिस्तर पर गिर कर आँसुओं से भर उठी। यही शीला किसी भारतीय की पत्नी बनेगी, ऐसी विचारधारा मात्र ने उनके मस्तिष्क में आग लगा दी। माँ को आज ही ज्ञात हुआ कि इस पुत्री को उन्होंने जन्म दिया था, यह भी सन्देहास्पद विषय है। शीला उनकी कोई नहीं। वह सम्पूर्ण रूप से देश के

काम की है। धारा बह २ कर सूखी और फिर आंखें शुष्क होकर जलने लगीं। उस रात मां को खाना न हो सका। अधिक रात गये आकर शीला भी सो गई, कौन कह सकता है उसका भोजन भी हुआ या नहीं ? माँ को उस दिन यह जानने की चिन्ता भी नहीं थी और ज्ञान भी नहीं। उस रात शीला और मां दोनों में से कोई भी न सो सका। चार बजे ही उठकर माँ ने ठाकुरद्वारे की ओर पग बढ़ाये और शीला ने पुस्तक पर अलसाये हुये से नेत्र जमाये।

शीला के अनुभवहीन साधारण विचारों वाले वकील पिता अभी तक निद्रानन्द ही ले रहे थे।

"यह क्या ?"

"यह सब तुम छोड़ न सकोगी रिची ?"

"क्या सब ?"

"यही सब, इतने दिनों से समझा रहा हूं। न जाने तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आता ?"

"आप समझाते रहें तो अवश्य आ जायेगा।" कुछ स्निग्ध मुस्कान सहित रिचा बोली। "किन्तु किस सब की आप बात कर रहे हैं ?"

"सच कहता हूं रिची, यह हंसी का समय नहीं है। गम्भीरतापूर्वक बात सुनो।"

"कहिये ?"

"तुम आज फिर शीतला मन्दिर गई थीं ?"

"जी हां।"

"क्यों ?"

"मां ने मनौती मानी थी। कल भइया रुपये दे गये थे कि दरिद्रों को भोजन करा देना, वही करवाने गई थी।"

"किन्तु मुझ से तो तुमने कहा था कि कहीं दान करना है।"

"जी हां, इसी रूप से दान करना था। मैं आपसे कह ही रही थी कि आप यह कहकर चले गये कि जो इच्छा हो कर लो। मुझे तो यह नहीं जान पड़ा कि आप यह अच्छा न समझेंगे। अब कभी ऐसी भूल न होगी।"

"भूल की बात नहीं कहता रिची। इससे मेरा अपमान होता है। मित्रगण मेरी खिल्ली उड़ाते हैं और राह चलते कहते हैं कि यह लो आई० सी० एस० की पत्नी मन्दिर में नंगे पैर घूम रही है।"

"किन्तु देवता के सम्मुख तो जूता नहीं पहना जाता। देवता तो आई०सी०एस से कहीं आदरणीय हैं।"

"तो फिर तुम्हें देवता से ही विवाह करना चाहिए था। फिर मीरा का दृश्य उपस्थित हो जाता।" बात न समझ कर कुछ चिढ़कर विनय ने कहा।

बात बढ़ने न देकर ऋचा बोली—"अच्छा अब ऐसा न होगा।" ऋचा चुपचाप पति के मेज पर पड़े दस्तानों से खेलने लगी। बेयरा चाय मेज पर ला चुका था। यद्यपि ऋचा को मेज पर बैठकर पति के साथ भोजन करना अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत होता था, उसकी इच्छा होती थी कि कभी वह भी श्यामसुन्दरी

या शिखा के समान ही प्रेम पूर्वक पति को भोजन कराकर उसके प्रसाद से तृप्ति करे, किन्तु पति के विरोध के डर से चुपचाप खा लिया करती थी। कितनी ही बार ऋचा की इच्छा होती कि स्वादिष्ट पाक पदार्थ स्वयं तैयार करके पति को तृप्त करे, किन्तु यह विदेशी संस्कारों का भक्त पति, पत्नी का पाक-शाला में जाना भी अपनी शान के विरुद्ध समझता है। पति के अनुरूप ऋचा अपने को यथाशक्ति बना रही थी। उसने मांस खाना तो आरम्भ नहीं किया था, किन्तु पति के माँस भक्षण पर कोई आपत्ति भी नहीं करती थी। श्यामसुन्दरी की शिक्षा पूर्णरूप से ऋचा हृदयांगम कर चुकी थी—"पति ही भगवान होता है बेटी, यह सत्य किसी दिन भी भुलाने का यत्न न करना। आत्म समर्पण करके ही अधिकार प्राप्त होता है, कुछ लड़कर छीनने से नहीं। पति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की क्षमता तुझ में हो, यह मेरा आशीर्वाद है।"

शिखा ने हंसकर कहा था —"मिलेगा सब कुछ रिची पर अपनी ही शक्ति से अधीर न होना।" इसी ध्येय को सम्मुख रख ऋचा सब अत्याचार हंसते २ सह रही थी। शिखा के प्रयत्न से ही ऋचा का विवाह विनयकुमार के साथ होगया। उसने सर्व हृदय से, तन, मन और प्राण से अपने आप को पति के ही अर्पण कर दिया। उसके संस्कार उसे अपनी इच्छा, अपनी आकांक्षा सब कुछ अभिभावकों के चरणों पर चढ़ाना पहले ही सिखा चुके थे। ऋचा साधारण सी गांव में रहने वाली सुशिक्षिता सुन्दरी थी। शहर की तड़क भड़क से परिचित न थी किन्तु पिछले छः मास में ही उसने पूर्णतया अपने को अपनी इच्छा विरुद्ध पति की रुचि के अनुकूल बना डाला। किन्तु फिर

भी वह विनयकुमार को न पा सकी। उसका रूप आकर्षक था किन्तु शान्तिदायक, स्वर्गीय वरदान की तरह; दीपक की तरह जलाने वाली चमक उसमें न थी। शीला का प्रेम जलाने वाला था। विनयकुमार को जलने की आदत पड़ चुकी थी, मधुर आनन्द उन्हें अच्छा ही नहीं लगता था। ऋचा हृदय की अन्तिम तह से श्रद्धा, भक्ति, प्रेम कर सकती थी किन्तु मीठे २ शब्दों में उसे व्यक्त करना उसकी शक्ति से बाहर था। मूक मुस्कान ही उसकी केवल मात्र अभिव्यक्ति थी। किन्तु विनय कुमार इससे तुष्ट न हो पाता था। रजत पट पर कहे गये "तुम रजनी रानी चन्द्र सुन्दरी हो" नायक के शब्द दोहरा कर उसकी इच्छा सुनने को होती थी "तुम तो स्वयं प्रकाश देने वाले दिनकर हो।" किन्तु उसकी रिची यह न कहकर केवल मात्र लज्जा से सिर झुका लेती थी। किसी मित्र से परिचय कराने पर वह यह कहकर कि "मैं आपसे मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुई" केवल यही कहती थी,-"आइये बैठिये।" और फिर साधारण वार्तालाप के पश्चात जलपान का प्रबन्ध करने चली जाती थी। कभी पियानो पर बैठकर दो पंक्ति भी न गा सकती थी। मित्र हंसकर कहते "यार है तो अनुपम सुन्दरी किन्तु सीता के युग की है। और विनयकुमार का उत्साह काफूर हो जाता था। वह झुंझला उठता था स्वयं पर, शिखा पर और सबसे अधिक उस निर्दोष पतिव्रता ऋचा पर।

विनयकुमार के कोर्ट चले जाने के पश्चात् नतमस्तक ऋचा रोम रोम से देवता के प्रति कह उठती है—"हे प्रभु, मेरा हृदय पति की मंगल कामना से भरा रहे। मैं उन्हें सन्तुष्ट कर सकूं। मैं सृष्टि का सर्वोत्कृष्ठ रत्न पाकर भी उसकी सेवा से

वंचित हो कठोर दण्ड भोग रही हूं। भगवान मुझे शक्ति दो कि सावित्री की तरह उनका मंगल कर सकूं।"

उसकी नील कमल सी आंखें अश्रुजल से भर उठती हैं। किन्तु वह भूलकर भी कभी पति के अतिरिक्त अन्य किसी का ध्यान नहीं करती।

विवाह के बाद बिदा की रात्रि को उसने सब के पश्चात् सत्येन्द्र के चरण छू कर कहा था—"भइया जाऊँ? हाय मुझे क्यों भगाते हो?"

अत्यन्त संयत स्वर में सत्येन्द्र ने कहा था—"ऋचि, इच्छा न होने पर भी मुझे इस विवाह की सम्मति देनी पड़ी। विनय यूरोप की सभ्यता का भक्त है और तू प्राचीन भारत की। क्या आशीर्वाद दूं, समझ नहीं पड़ता, फिर भी यही आशीर्वाद देता हूँ कि तू अपने शिव की गौरी हो और अपने शिव को भी ठीक ठीक शिव बना सकने में समर्थ हो। जा, मां गौरी तेरा कल्याण करे।" अत्यन्त संयत स्वर अन्त तक बिखर गया। ऋचा की आंखें भईया के चरण युगल धो रही थीं और भईया के नेत्र ऋचि के सौभाग्य पट पर थे, जो कि सिर तक ओढ़ा हुआ था। ऋचा वह शब्द कभी भी भूल नहीं पाती। सत्येन्द्र जब भी ऋचा को देखने आता है उसे फूल की तरह खिली हुई अपनी ऋचि ही दिखाई देती है। वह पत्रों में सदैव लिखता है, "ऋचि अत्यन्त सुखी है, बहुत सुखी है।" किन्तु ऋचा? हां, वह अत्यन्त सुखी है, अपने पति की चिरभक्त गौरी है ना वह। इससे अधिक की उसने कभी इच्छा नहीं की थी। रात्रि में एक बार विनय के सो जाने के पश्चात् वह अत्यन्त भक्ति से उन गौर वर्ण चरण युगल में माथा रखकर स्वर्ग का अनुभव करती

है। यही सुख उसके जीवन की सबसे बड़ी विभूति है। इसी को लेकर वह सृष्टि की अत्यन्त प्रियपात्री प्रेमिका से भी अधिक धन्य है। विनय भी अपनी सभ्यता की दौड़ में पिछड़ी हुई पत्नी को हृदय से प्रेम किये बिना नहीं रह सकता। यद्यपि उसे दुःख है कि रुचि का प्रेम दाहक नहीं, किन्तु फिर भी वह शान्त प्रेम उसके जीवन में एक अज्ञात नवीन स्वर्ग की सृष्टि कर रहा है, जिसे वह स्वयं भी नहीं जानता। आम के एक टुकड़े का मुख में डालते हुये रुचा बोली—"जमादार की लड़की को हैजा हो गया है।"

"हैं" घबराकर विनय ने कहा,—"फिर उसे हस्पताल भिजवाया ?"

"अरे नहीं, मैंने उसे कपूर के अर्क में मिलाकर थोड़ा सा प्याज का रस और अमृतधारा दे दी। पेट मल भी दिया। अब तो आराम है।"

"अच्छा तो तुम खुद उसे जाकर छू आई" डर से विनय का चेहरा सफेद पड़ गया। "देखो रिची, पागल न बना करो, फौरन डाक्टर को फोन करके आने को कहो तथा केस भी समझा दो। तुम्हें तुरन्त ही इन्फैक्शन से बचने का प्रबन्ध करना होगा।"

"मुझे हैजा नहीं होता, आप निश्चिन्त रहें।"

"फिर भी डाक्टर बुलाना ही होगा। लेकिन तुम्हारे भगवान तो भंगियों का छूना पाप बताते हैं न ?"

"हमारे भगवान मनुष्य की सेवा पाप नहीं बताते। और मेरे भगवान तो आप ही हैं। जब आप कहते हैं मनुष्य

मात्र ही बराबर है तो मुझे भी अपने भगवान की बात माननी ही होगी।"

आश्चर्य से विनय का चेहरा भर उठा। उसने यह बातें सदैव ही उपदेशों में कहीं थी किन्तु कोई व्यक्ति उन्हें जीवन में लाने का यत्न करेगा ऐसी उसने कल्पना भी कभी न की थी। उसे याद आया जब शीला ने एक मलेरिया ग्रसित महिला को वमन करते देख उससे कोई जमादारिन बुला लाने को कहा था और जमादारिन न मिलने पर स्वयं यह कहकर कि किसी नर्स का प्रबन्ध कर देंगे वहां से चला आया था फिर न जाने क्या हुआ उस रोगिणी का। वह शिक्षित है और यह जटिल हिन्दू, अत्याचारी हिन्दू धर्म की मतावलम्बिनी, दीन मातृहीन भंगी की कन्या के वमन दस्तों के बीच बैठकर उसकी सेवा कर सकती है और फिर आकर नहाकर ही ठाकुरद्वारे में जा सकती है वैसे नहीं। इनमें से कौन सा प्रेम है? और कौन सी घृणा? ऋचा के मुख पर अनजाने ही एक स्वर्गीय ज्योति चमक रही थी। विनय को मालूम पड़ा जैसे उसकी रिची उससे कहीं २ अधिक ऊंची है। यद्यपि वह भंगी को साधारणतः नहीं छूती, यद्यपि वह मिट्टी के शिव के आगे सिर झुकाती है।

"आप अप्रसन्न होगये? कोई और तो था ही नहीं। नौकरों में से कोई जाना नहीं चाहता था और उसका पिता बाजार गया था।"

"नहीं रिची अप्रसन्न नहीं, चिन्तित हूं।" कहकर पहली ही बार दाम्पत्य जीवन में विनय ने पत्नी को प्रेम और श्रद्धा की मिश्रित दृष्टि से देखा।

"चलो डाक्टर को फोन करके बुला लें रिची, तुम्हारी

रोगिणी को भी देख लेगा।"

"आप क्लब नहीं जायेंगे क्या ?" अत्यन्त प्रेम से पत्नी ने पूछा। उसे आज के व्यवहार से दाम्पत्य जीवन में सुखमय परिवर्तन का आभास हो रहा था। उत्तर आशाजनक मिला।

"नहीं, अब केवल तुम्हारे साथ ही जाया करूंगा।" मन ही मन ऋचा ने मां गौरी को समस्त हृदय से प्रणाम किया। यद्यपि विनय अभी तक यही निर्णय न कर पाया था कि यह मूर्खता है अथवा सच्ची मानवता ?

खोज

"हैलो, मिसिज शर्मा ? कहिये आज कैसे भूल पड़ी ? आओ विनय, परसों से आये ही नहीं क्या बात थी ?"

"यूं ही यार पड़े २ ही शामें गुजर जाती थीं। आज भी रिची ने कहा कि चलो फेयरवेल तो अटैन्ड कर आओ। इसीलिये चला आया।" विनय हंसते हुये बोला।

"ओह, गहरी छन रही है आजकल। खैर शुक्रिया मिसिज शर्मा आप इन्हें लाईं तो। यार आज तुम्हारी बेहद इन्तजार थी, मैं तुम्हारे पास आने ही वाला था। तुम्हारी स्पीच के बिना मजा नहीं आता। साहनी भी कह रहा था, विनय की फेयरवेल स्पीच बिना पार्टी मैं लूंगा ही नहीं।"

"ओह, ओह बड़ी जरूरत होगई हमारी तो। हां

इन्ट्रोडक्शन करवाना तो भूल ही गया मैं। रिची यह मेरे दोस्त महमूद तक़ी हैं। आप आई०एस०एस० हैं। बड़े खुशदिल हैं। तक़ी इन्हें तो तुम जानते ही हो।"

"खूब, खूब हम ना जानेंगे? देखिये मिसिज शर्मा, पहचान रखिये, जिस दिन आपके घर आ धमका फिर पीछा न छोड़ूंगा।"

"आइये, सौ बार आइये। घर आपका है।" साधारणतया ऋचा ने कहा। वह पीछे थी। तक़ी ने हंसकर विनय से कहा—"दावत तो मिल गई है यार, कब आऊं?"

"शरारत न करो, ज़रा नाज़ुक मिजाज है।"

"रंगीन नहीं।"

"अरे यार कुछ सोचकर बको। मेरी वाईफ है, कहीं सुन न ले।"

"ओह।"

चारों ओर से स्वागतों की झड़ी में तीनों मेज पर जा बैठे। ऋचा ने इस बार केवल स्त्रियों की मेज ढूंढने का यत्न नहीं किया। वह अब इस सोसाइटी को पहचान गई थी। चुपके से सुकड़ती हुई शीला के पास ही बैठ गई। तीसरी कुर्सी पर तक़ी और चौथी पर विनय शर्मा बैठे थे। शीला आज पहली ही बार ऋचा से मिली थी। शिखा की क़ाफ़ी रंग की बनारसी बोर्डर की साड़ी जो कि शिखा ने स्वयं अपनी बनारस से जाकर लाई हुई साड़ियों में से पसन्द करके दी थी ऋचा के शरीर पर थी। एक दिन स्वयं विनयकुमार ने भी कहा था—"रिची इस साड़ी को पहन कर तुम इस लोक की लगती ही नहीं।" उज्जवल दीपशिखा सा मुख उस गहरे रंग की साड़ी में से चमक रहा था। माथे पर अत्यन्त सुन्दर सी बिन्दी हंस

रही थी। और शीला को आश्चर्य यह था कि जिस सिन्दूर पर वह यावज्जीवन घृणा की ही दृष्टि डालती रही आज ऋचा की सीधी मांग के बीच में बैठकर वही सिर की शोभा कई गुणा बढ़ा रहा था। यही एक वस्तु थी जिसे अनेकों बार मना करने पर भी वह विनय की आज्ञानुसार छोड़ न सकी थी।

शीला ने आज दकियानूसी भारतीय वेषभूषा में अतीव शोभा देखी। उसकी बादामी रंग की साड़ी मानों फीकी सी पड़ गई। दोनों ओर फूले हुये गाल भी झल्ला से गये। उसे पहली ही बार लगा कि उसमें कुछ कमी है। वह ऋचा से कहीं अधिक शिक्षित, सभ्य और योग्य है फिर भी उसकी आभा मानों फीकी सी पड़ती जा रही है। फिर भी उस ऋचा पर सहज स्नेह हो आया।

"ओह रवि शर्मा भी पहुँच गये? आइये, आइये आपका परिचय करवा दूं।" तक्षी ने तपाक से रवि शर्मा से हाथ मिलाया।

"आप हैं मिसिज विनय कुमार।"

"नमस्ते।"

"नमस्ते" शर्मा, यह तो सुन चुका था कि ऋचा का विवाह हो गया। किन्तु वह विवाह पर भी नहीं गया था और उसके पति को जानने की भी उसकी कभी इच्छा नहीं हुई थी। आज अचानक झुके हुये सिर के साथ दो जोड़े हुये कोमल हाथ अलग होते ही 'रिचि' दिखाई पड़ेगी और वह भी विनयकुमार की पत्नी के रूप में—यह तो उसने कभी स्वप्न में भी न सोचा था। ऋचा को भी उस साम्यवादी तेजस्वी युवक को इस मण्डली में देख कर आश्चर्य तो हुआ, किन्तु अधिक नहीं। तक्षी

ने और किन-किन से परिचय करवाया, शर्मा समझ ही न सका, केवल मन्त्र की तरह 'नमस्ते' करता गया। उसकी एक जोड़ा आँखें ऋचा के अपूर्व सौन्दर्य पर गड़ी हुई थीं, शायद वह सोच रहा था कि यह बालिका, जो कि सम्भवतः मेरी पत्नी होती, आज इस अपूर्व सौन्दर्य को कहां से इकट्ठा कर लाई ? शायद यह शहरों के लिये अनुचित लज्जा ही इस मुख को कुछ लाल किये अनुपम सौन्दर्य प्रदान कर रही है। भोजन प्रारम्भ हो चुका था। मिसिज़ कपूर के मजाक से सारा वातावरण हँसी से गूँज रहा था, किन्तु शर्मा चुप था। शर्मा की इस भाव भंगी पर जोड़ा और नेत्र जमे हुये थे। यह शीला की आँखें थीं। उसे शर्मा के आज के व्यवहार पर आश्चर्य हो रहा था।

"लीजिये मिसिज कुमार, एक आध समोसा और लीजिये।" लक्की कह रहा था।

"हाँ हाँ, समोसा भी ट्राई कर देखो। केक तो रिफ्यूस हो ही चुका है।" मिसिज कपूर ने व्यंग से कहा।

तब तक अत्यन्त मृदुता पूर्वक ऋचा पात्र बिना ही समोसा उठाये आगे बढ़ा रही थी। मिसिज कपूर खिलखिला कर हँस पड़ीं—"मिस्टर लक्की, यह हैं मिसिज़ कुमार, आपके दल में यूँ नहीं मिलेंगी। यह हम तो हैं नहीं भ्रष्ट लोग कि अण्डे आदि तो खा ही लेते हैं, आपके हाथ का भी खा ही लेते हैं।"

"ओह ! तो हम म्लेच्छ हैं क्यों मिसिज कुमार ?"

"यह तो मैंने कभी नहीं कहा।" ऋचा ने मीठे स्वर में कहा। विनय का मुँह फीका पड़ रहा था। शीला ने उत्तेजित होकर कहा—"तो फिर आप जब से केवल नाम मात्र ही क्यों खा रही हैं ? और वह भी केवल फल ही।"

यही ऋचा की दुर्बलता थी, उसे यह ज्ञान भी न था कि कोई उसके खाने की ओर भी ध्यान दे रहा है।

"नहीं बहन, यह बात नहीं है। व्यर्थ में रस भंग न करें।"

शीला व्यंग से चिढ़ी सी बैठी थी, बोली—"क्यों विनय, फिर हम लोग भी अस्पर्शनीय हो गये न? मैं तो मनुष्य मात्र के साथ एक सा व्यवहार करने में विश्वास करती हूं और तुम्हारे सिद्धान्त कहाँ गए?"

सभी को एक मजेदार विवाद का सूत्र सा मिल गया।

विनय शर्म से लाल हो रहा था। धीरे से बोला—"शीला, रुचि तुम्हारे सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं है। ऋची, लेओ ना, समोसा भी ले लो। क्यों सखी, परसों तुम्हारी सैन्ट्रल ऐसोसिएशन की रिपोर्ट का क्या किस्सा रहा। कल शर्मा तो बड़ी लम्बी-चौड़ी कहानी सुना रहे थे।" बात बदलते हुये विनय ने कहा।

शीला की इच्छा बहस करने की थी, किन्तु रश्मि उसे उसी समय यह कहकर उठा ले गया कि १० मिनट बाद ही उनकी एक आवश्यक मीटिंग स्टैण्डर्ड में होगी।

लौटते समय कार में बैठते हुये ऋचा और विनय के मन वैसे न थे, जैसे कि उतरते समय थे। विनय कार चलाते हुये कुछ झुँझलाहट से बोला—"तुम भी अजीब हो ऋची, उस गन्दी भंगी की कोठरी में बैठते हुये तुम्हें घृणा नहीं आती, किन्तु पति के एक मित्र का अपमान करते लज्जा नहीं आती। धन्य तुम्हारी पति भक्ति।"

"मैंने जानकर उनका अपमान नहीं किया।"

"यह अपमान नहीं तो और क्या है? उसके हाथ से कुछ खाते तुम्हारी जाति जाती है। उसने टैनिस खेलने को बुलाया तो भी इन्कार कर दिया। यह अपमान नहीं तो और क्या है?"

"कहाँ, टैनिस मुझे खेलना ही कहां आता है, अभी तो सीख ही रही हूँ।" सहास्य ऋचा बोली।

"तुम्हें आता ही क्या खाक है? टैनिस नहीं, डान्स नहीं, प्यानो भी नहीं, केवल अपने पत्थर के भगवान के आगे ही बैठी गाती रहती हो। सभा में गाते आवाज निकलती ही नहीं है? शिखा जीजी ने क्या बला मेरे गले बाँध दी।"

ऋचा मन ही मन चुपचाप प्रार्थना कर रही थी कि मैं इनकी इच्छा के अनुकूल ही बन सकूं। वह पूर्णरूप से निश्चय कर रही थी कि अब केवल इनकी इच्छा को ही धर्म समझूंगी।

विनय कुछ देर चुप रहकर स्टेएरिंग वीहल हिलाते हुये बोला,—"शीला को देखा था, कितनी योग्य है। बी०ए० तक पढ़ी है। ऐसी योग्य और जोशीली कार्यकर्त्री है कि आश्चर्य होता है और एक तुम हो। तुम तो किसी पुरोहित से विवाह करतीं, केवल देवपूजा ही करती रहतीं। काश, कि मैं पत्थर होता और तुम्हारी पूजा से सन्तुष्ट हो सकता।" विनय क्रोध से होंठ काटने लगा।

ऋचा ने दुःख, क्रोध और लाचारी से दोनों होंठ जोर से दांतों से दबा लिये। जीवन में पहली ही बार उसे अपनी दुर्बलता, असफलता और दीनावस्था पर दुःख हुआ। वह पति की इच्छा के अनुकूल क्यों नहीं बन जाता।"

मां ने कहा था—"बेटा, स्त्री का देवता पति ही है किन्तु

कहां मेरा देवता तो मुझ से प्रसन्न नहीं।" उसकी उज्जवल श्वेत आंखों में खारी जल भर आया। कार घर के समीप ही थी, यह दूसरा दृश्य था।

मां बेटी

"मां कहे रखती हूँ, इस अनुचित दबाव का परिणाम भयंकर ही होगा।"

"तब फिर क्या आजीवन धींगरा सी लड़कों के साथ घूमती ही रहेगी। कभी तनिक भी तो लड़की का सुख मैंने नहीं देखा। लोगों की लड़कियां इतनी सहायता देती हैं, आज्ञाकारिणी होती हैं और एक मेरा दुर्भाग्य।" मां की आंखों में जल भर आया। शीला को मां की अवस्था पर कुछ दया सी आ गई। क्रोध कम पड़ गया। विचारी अज्ञान मां यह नहीं जानती कि उनकी पुत्री तो देश की सेवा करने में उद्यत है। विचारी मां। आज प्रातःकाल से ही शीला अपने कमरे में पड़ी थी। पुस्तकें भी नहीं छुईं, विचारधारा में ही बहती रही। इस समय कुछ बोलने की इच्छा स्वाभाविक ही थी। स्थान और पात्र का ध्यान छोड़कर कह ही उठी—"मां, तो तुम्हारे विचार में नारी का जीवन चूल्हे, चक्की और सिंगार, सोईंग मशीन तक ही सीमित रहना चाहिये?" अशिक्षिता नारी के हृदय में दुःख और निराशा का संघर्ष हो रहा था। तनिक भी विषाद

करने की इच्छा न थी फिर इस दुर्दमनीय लड़की पर विवाद का कुछ असर हो भी नहीं सकता था। धीरे से बोली,—"यह सब मैं क्या जानूं, तुम नई रोशनी की पढ़ी लिखी लड़कियां जो न करो वही थोड़ा है। मेरा जन्म तो इन्हीं में बीता है।" कुछ उत्तेजित होकर मां कहने लगी — "पर शीला मान जा, यहां इनकार न कर, इससे अच्छा वर तुझे इस जन्म में मिल नहीं सकता।"

"मां, मैंने कह दिया मैं विवाह न करूंगी और अगर करूंगी तो भी अपनी इच्छा से। मैंने संसार की अन्य देशों की नारियों के स्वतन्त्र जीवन से परिचय प्राप्त किया है। स्वतन्त्र वायु में सांस ली है। मां, यदि आपको मुझे स्वतन्त्रता देने की इच्छा नहीं थी, साहस नहीं था तो फिर भला स्वतन्त्रता का एक बार आनन्द ही क्यों लेने दिया, मेरी अच्छी मां?" इस बार इस कठोर लड़की का स्वर कुछ गीला सा था।

"मैं तो उन्हें सदा से कहती रही हूँ, लड़की के ढंग अच्छे नहीं हैं, हाय रे दुर्भाग्य!"

कुछ चुप रहकर मां ने फिर कहा—"शीला, बेटा सोच ले एक बार। तेरे पिता कितने परिश्रम से जमींदार साहब को मनाकर आए हैं। लड़के ने चूँ चरां कुछ भी नहीं किया, देवता स्वरूप लड़का है। भाई के चरण छू कर बोला, भइया की इच्छा ही मेरा कर्तव्य है। वह लड़का होकर इतना नम्र है और तू लड़की होकर भी अपनी मां का कहना नहीं मानती री?"

विचारशील, बुद्धिवादिनी, कर्तव्यपरायणा शीला इस प्रसंग पर और मां के कहने के ढंग से सिर से पैर तक जल उठी। "मां, उन्हें सदा से स्वतन्त्रता मिली है, वह पुरुष हैं। भारत के पुरुष

नारी को जिस रूप में प्रयोग में ला सकते हैं, अपमानित कर सकते हैं, अधिकार वञ्चित कर सकते हैं। उन्हें अधिकारों से कोई वञ्चित नहीं कर सकता, पाप करने पर भी नहीं, अपराध करने पर भी नहीं। ऐसी दशा में यदि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं करते, किसी पर छोड़ देते हैं तो यह उनका दान है, वाहवाही लूटने का तरीका है। किन्तु नारी का, भारत की लड़की का आज्ञा मानना केवल दासता है, अधिकारों का दान नहीं। अधिकार उसके पास है ही कहां, यह तो भयंकर गुलामी है। वह गुलामी मैं तुम्हारी भले ही करलूं किन्तु पराये घर के स्त्री पुरुषों की तो कदापि न कर सकूंगी, न कर सकूंगी। ओह, मुझे तो यह सोचकर भी घृणा उत्पन्न होती है कि हम स्त्रियां गुलाम हैं।" उत्तेजना से शीला कांपने सी लगी। उसकी तेजस्विता उसके शब्दों की झँकार में बहने सी लगी।

तवे पर पड़ी रोटी कभी की जल गई थी। मां एकटक बेटी के इस व्याख्यान को एकाग्रचित से सुन रही थी। अपने जीवन में कहीं ढूंढने से भी उसे दासत्व की झलक नहीं मिल रही थी। उसकी आंखों के सम्मुख वह दिन चमक उठा जब भीषण ज्वर में तड़फ रही थी और उसका पति सारी रात बिना पलक झपके अपने हाथों पर सिर रक्खे उसके पास बैठा रहा था। अच्छे होने पर जब उसे ज्ञात हुआ कि पति पांच सौ रुपये उधार लेकर उसकी बीमारी में खर्च कर चुका है तो वह कितनी नाराज हुई थी। क्या यह दासता थी अथवा प्रेम? उसे याद आया जब वह भानजी की बीमारी पर पति की आज्ञा न होने पर मायके नहीं जा सकी थी। फिर उनके यह कहने पर कि "यदि तुम चली जाती तो भई, मैं तो घर छोड़छाड़ कर

सन्यासी हो जाता। तेरे बिना मुझसे तो एक क्षण यहां न रहा जाता।"

यह गुलामी थी। ओह कितनी मीठी गुलामी थी वह ? मां का हृदय आशंका से भर उठा लड़की के लिये जो स्वतन्त्रता की खोज में वह चली थी। कौन जानता है इसे फूल मिलेंगे अथवा कांटे ? मां का हृदय तो कांटों की आशंका से ही कांप रहा था। गुमसुम हुई मां पर लड़की की दृष्टि पड़ते ही वह हंस पड़ी —"मां, रोटी तो जल गई।"

"अरे हां" कहकर मां ने जल्दी से रोटी उतार ली। हृदय की जलती आग ने भी आंखों में दो बूंद गरम पानी ला दिया। लड़की समझी मां की आंखों में धुआं लग रहा है, मां समझ रही थी कि लड़की के जीवन में घोर काला धुआं भर रहा है। दोनों के रास्ते भिन्न थे फिर भी प्रेम की एक डोर में दोनों ही बंधी थी।

बहुत यत्न करके मां ने फिर कहा —"तो फिर उन्हें क्या कह दें शीला ?"

"कह दो शीला समझदार है, वह अपना जीवनसाथी यदि आवश्यकता हुई तो आप ही चुन लेगी। पिता जी को व्यर्थ चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता पड़ने पर शीला अपनी आजीविका भी कमा सकती है।"

पिछला व्यंग मां के कलेजे को छेदता हुआ चला गया। किन्तु शीला तब तक उठ चुकी थी, साड़ी सम्भालती हुई अपने कमरे की ओर चली गई। माँ, उसके लम्बे, दुबले शरीर को एकटक देखती रही। कालेज की शिक्षिता युवती और गंवई गांव की अधेड़ स्त्री का सम्मिश्रण ही संसार का सत्य है। अधिकांश

भाग में संसार इन्हीं मधुर विरोधों से भरा पड़ा है। इन्हें सुलझाने की शक्ति किस में है, यह कौन जान सकता है?

शीला तब तक अपने कमरे के बीच में आकर आराम कुर्सी पर धप से बैठ गई। उसकी सुन्दर प्रतिच्छाया दर्पण में पड़ रही थी। शीला ने दर्पण की ओर देखते हुये सोचा—

"इतना रूप, प्रतिभा, बुद्धि, बोलने की शक्ति, विवाद करने की प्रतिभा, कार्य करने की अद्भुत क्षमता, क्या सब कुछ एक ही व्यक्ति के चरणों पर चढ़ा देने को है। जोनडे आर्क क्या स्त्री नहीं थी, फ्लोरेन्स नाइटिन्गेल क्या नारी नहीं थी? इस युग में भी क्या आवश्यक है कि हम सीता का ही आदर्श मान कर चलें।" विचारधारा मुड़ी। गत रात की पार्टी की याद शेष थी, फिर सोचने लगी—"हां, ठीक ही तो है, ऋचा जैसी सतरहवीं सदी की नारियां विवाह करें, विनय जैसे कामुक पुरुषों को प्रसन्न करें, देवता की तरह पति की पूजा करें, बच्चों को जन्म दें। उन्हें यही शोभा देता है, किन्तु जिसमें शक्ति है, साहस है, वह क्यों न संसार सागर में अकेली ही कूद पड़े। बह जाने पर भी कोई दुःख नहीं। साहस, संघर्ष और कठिनाई ही तो मानव जीवन है और नारी भी तो मानव ही है।"

"विनय ने ऋचा से विवाह कर लिया। ओह, यही नारी सत्येन्द्र की बहिन है।" विचारधारा फिर मुड़ी। इस बार शेक्सपीयर, फरोयड और बर्नार्डशा द्वारा पोषित सुप्त नारी चिल्ला उठी—"किन्तु विनय ने इसमें क्या देखा? यह तो पुराने ढर्रे की गँवार स्त्री है·········यही विनय एक दिन मुझ पर मरता था।" इस बार शीला की अहंकारी नारी की इच्छा हुई, पुरुष को बड़ी भारी हार देने की। आधुनिक युग की नारी

हर क्षेत्र में पुरुष को परास्त कर देना चाहती है, इसमें उसे आनन्द होता है। "और हां, यत्न करके अब भी वह विनय को·········नहीं, नहीं, वह यह सब न करेगी। उसका अपना एक गौरव है, जिसे वह बनाये रखेगी। शीला विवाह नहीं करेगी, पुरुष की दासी नहीं बनेगी। विनय को एक बार वह दास बना ही चुकी है, उसे विश्वास है कि फिर भी बना सकती है, इसलिये यह खेल फिर नहीं खेलेगी।" अभिमानी प्रवृत्ति को शीला ने सचेत कर दिया, उसने मन ही मन विचार कर डाला कि वह किसी की भी दासी न बन सकेगी। किन्तु रवि········· ओह, वह क्यों दिन प्रतिदिन उसकी ओर आकृष्ट होती जा रही है। रवि भी तो उस दिन कह रहा था—"शीला, तुम आ जाया करो, नहीं तो सेण्टर में मेरा जी ही नहीं लगता।" शीला का दृढ़ प्रतिज्ञ, डूबता मन एक बार फिर हर्ष से भर उठा। यह उसकी दूसरी अनुपम विजय है। उस व्यक्ति पर विजय है जो सबसे अधिक कठोर और भावनाहीन समझा जाता है। तब फिर, तब फिर क्या मैंने रवि को भी परास्त कर डाला। हां कर ही डाला।" कौन जानता है नारी की यह जीत कितनी अस्थायी है, कितनी दुर्बल है, और है कितनी भयंकर। फिर भी शीला की दृढ़ मानसिक प्रकृति ने यह स्वीकार करना चाहा नहीं।

ओह

"बहिनों, आज हमारे लिये अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि आज हमारे जलसे की सभानेत्री का पद मिसिज विनय कुमार सुशोभित करेंगी। मैं उनसे प्रार्थना करती हूं कि वह आसन ग्रहण कर हम सब को कृतार्थ करें।"

तालियों की गड़गड़ाहट में शुद्ध बंगलौर सिल्क की श्वेत साड़ी में सुशोभित ऋचा हारों से लदी सभानेत्री के आसन तक पहुंच गई। उस दिन विमेनज क्लब में वाद-विवाद था। विषय था—"नारी की स्वतन्त्रता ही उसका गौरव है।" मन्त्राणी मिसिज पांडीकर ने बड़ी कठिनाई से ऋचा को सभानेत्री बनने पर राजी किया था। विनय की भी इच्छा और आज्ञा दोनों ही थी कि रिची मिसिज विनयकुमार के रूप में नगर की नारी सभाओं में प्रसिद्धी प्राप्त करे। स्वयं उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से एक स्पीच लिखकर नारी के "जन्म सिद्ध स्वतन्त्रता के अधिकारों की पुष्टि" पर उसे याद करवाई थी, जिस में उसे सदा ही असफलता हुई थी। न जाने क्यों अत्यन्त प्रगल्भ ऋचा को विनयकुमार के सम्मुख खड़े होकर यह सब कुछ करते लज्जा से मर जाना पड़ता था। उसकी भाभी तो कभी भईया के सम्मुख उसके सामने बोली भी न थी, फिर वह उनके सामने व्याख्यान कैसे दे, किन्तु विरोध करना तो उसने सीखा ही न था। अपने विचारों को दबाकर सब कुछ करती रही।

यही तो उसका धर्म था न ? यही उसकी मां जी की शिक्षा थी, भाभी की दीक्षा थी। अत्यन्त परिश्रम से लज्जा को ढकेल कर ऋचा सभानेत्री के आसन पर आ ही बैठी। विवाद आरम्भ हो चुका था। मिस शर्मा कह रही थी "देश की दीनावस्था का एकमात्र कारण नारी जाति की अधोगति है। ......परदे की प्रथा कुछ २ हट रही है किन्तु फिर भी नारी को स्वतन्त्र वायु में सांस लेने नहीं दी जा रही है......दुर्भाग्य है उस देवी का जिसे यावज्जीवन मनु महाराज की आज्ञानुसार आश्रित ही रहना पड़ता है।......नारी की अवस्था दासी से भी बुरी है, इच्छा न होने पर, न पटने पर, दासी नौकरी छोड़कर जा सकती है किन्तु यावज्जीवन के लिये खरीदी हुई दासी पत्नी इच्छा न होने पर भी कानूनन पति के साथ रहने को बाध्य है और यह अत्याचार सिवाय भारत के और कहीं नहीं किया जाता।"

ऋचा के लिये यह नवीन ही शिक्षा थी। पति के मुख से अनेकों बार इस प्रकार के उपदेश सुनकर हंस दिया करती थी किन्तु भारतीय महिलाएं भी इसी देश में इस प्रकार सोच सकती हैं यह उसने सोचा भी न था। उसके पति उस पर प्रसन्न नहीं किन्तु क्या यह उसको उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा दासत्व है ? नहीं। वह उसे कहते तो नहीं, जबरदस्ती भी नहीं करते। वह स्वयं ही कर्तव्य की भी नहीं, प्रेम की प्रेरणा से उन्हें सुखी करना चाहती है। कहां, इसमें उसे कष्ट तो नहीं होता, एक प्रकार की प्रसन्नता ही होती है। विचारधारा में विनय का परिश्रम से रटाया हुआ व्याख्यान जाने कब का उड़ चुका था। उसे उसका एक अक्षर भी याद नहीं रहा था।

तालियों की गड़गड़ाहट में शीला विजेता के गर्व से

उठी। उसकी आंखें चमक रही थीं। ऋचा की ओर एक हल्की सी दृष्टि डाल कर उसने व्याख्यान आरम्भ किया। शब्दों में जीवन था। ऋचा ध्यानपूर्वक सुनने लगी। "आज स्वतन्त्र देशों का नारी समाज हमारे सम्मुख एक जीवित आदर्श उपस्थित कर रहा है। वहां की नारी जाति जीवन और स्वतन्त्रा का जीवित उदाहरण है। उन्होंने स्त्री को मनुष्य और मानव अधिकारों के योग्य प्रमाणित करके ही दम लिया।······हम भी मनुष्य हैं। हमारी धमनियों में भी संसार के सर्वोच्च स्वतन्त्रता के पुजारियों का रक्त बह रहा है फिर क्यों न हम समस्त हृदय से आजादी की पुजारिन बनें········पुरुष हमारे जीवन को जिस ओर मोड़ना चाहें मोड़ लें। क्यों ? उसे ऐसा करने का क्या अधिकार है ? यदि वह अन्याय से हमारे अधिकारों पर डाका डालेगा तो हम भी यह अत्याचार जो भारतीय मूक नारी ने अज्ञानतावश युगों सहा है अधिक देर तक न सह सकेंगी।······बहिनों, हमें इसके विरुद्ध युद्ध करना ही होगा। देश की स्वतन्त्रता के युद्ध से पूर्व ही नारी को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करनी होगी। उसे पत्नी से ऊपर उठकर नारी बनना होगा। इसके बिना वह सभ्यता की आधुनिक लम्बी दौड़ में पिछड़ी ही रह जायेगी।············उसे स्वतन्त्र देशों का आदर्श मानना होगा। योरुप के नारी समाज को अगुआ बनाकर चलना ही ही होगा। ······
······हमारे जीवन को जिन पुरुषों ने अकर्मण्य और खोखला बना दिया है उन्हें हम कदापि क्षमा न कर सकेंगी ······पत्नी, बहिन, पुत्री, मां सबको अपने अधिकारों की पूरी मांग करनी होगी, उन्हें प्राप्त भी करना ही होगा तभी हम

जीवित रह सकेंगी......हम किसी भी क्षेत्र में किसी भी दिशा में पुरुष से न्यून नहीं है तनिक भी नहीं हैं। फिर क्यों हम उनके आश्रित बनकर रहें।......स्त्री क्यों प्रत्येक काम के लिये पुरुष से आज्ञा ले? वह संसार में आजाद होकर अवश्य जियें परन्तु हमारी आजादी के मूल्य पर नहीं, कदापि नहीं।..."

ऋचा सोचने लगी "वह कैसा जीवन होगा जिसकी नीव प्रेम, विश्वास और त्याग पर नहीं, वरन केवल अधिकारों की मांग पर होगी। जहां एक पहिया दूसरे के कुछ टेढ़ा होने पर स्वयं टेढ़ा न होकर सीधा ही रहेगा और तब शायद गाड़ी अड़ जावेगी। किन्तु पहिया कहता ही रहेगा कि मैं टेढ़ा क्यों होऊं? तब फिर क्या मुझे भी उनसे लड़ना पड़ेगा अधिकारों के लिये......किन्तु मेरे अधिकार ही कौन से हैं?......" विनय की लिखी हुई स्पीच के रहे सहे वाक्य भी स्मृति पर से धुल पुंछ गये। विचारधारा दूसरी ही दिशा में बह रही थी। दोनों ओर के व्याख्याता बोल चुके थे। मिसिज पांडीकर ने सभानेत्री से प्रार्थना की कि वह भी अपने विचार प्रकट करें। ऋचा इससे पूर्व कभी स्टेज पर नहीं आई थी और रटी हुई स्पीच भी भूल चुकी थी। साहस करके खड़ी हो गई। दो तीन मिनट की हिचकिचाहट के पश्चात ऋचा परिस्थिति भूल कर सत्येन्द्र भईया के साथ बहस करने वाली नन्ही ऋचा की तरह बोलने लगी। शब्द बह रहे थे। शीला आश्चर्य से इस गंवार स्त्री के मुख से बहने वाले शब्दों को पी रही थी।

"बहनों, यह स्वतन्त्रता मानव अभिमान को भले ही तृप्त कर दे किन्तु यह नारी के जीवन को पूर्ण कदापि नहीं कर पायेगी।......नारी त्याग करती है, बलिदान करती है किन्तु

किसके लिये, अपनों के ही लिये तो……पुरुषों के सशंक स्वार्थी स्वभाव के साथ यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही नारी का त्याग-मय स्वभाव न मिल जाये तो सृष्टि में अन्धेर हो जाये।…… सहनशीलता नारी का आभूषण है दोष नहीं।……नारी पुरुष पर शासन करती आई है और करती रहेगी, किन्तु अदालत के जोर से नहीं, त्याग, सेवा और सर्वस्व समर्पण से ही……यदि यही उससे छिन गया तो फिर वह आदर की वस्तु न रह जायेगी……अदालत आपको समानाधिकार भले ही दिला दे किन्तु प्रेम नहीं दिला सकती……फिर आप रानी पद छोड़कर समान क्यों बनना चाहती हैं? आपके जीवन का सौन्दर्य मातृत्व में है न कि नारीत्व में और माता का अर्थ ही है त्याग-मयी……भारतीय नारी आज भी संसार की नारी जाति के सम्मुख केवल त्याग गुण पर ही सिर उठाकर चल सकती है। यह गुण इससे न छीनो अन्यथा यह कहीं की भी न रह जायेगी……।"

तालियों की गड़गड़ाहट में ऋचा ने सभा को विसर्जित होते देखा। धन्यवाद के पश्चात् वह कार की ओर बढ़ ही रही थी कि शीला ने आगे बढ़कर नमस्ते की। ऋचा ने तुरन्त ही प्रेम से नमस्ते की, वह उसे पहचान गई थी। शीला के मन में प्रथम दिन से ही ऋचा के लिये स्नेह रहता था।

"अच्छा मिसिज विनयकुमार, आप अपने जीवन से सन्तुष्ट हैं क्या?" पाश्चात्य सभ्यता के विरुद्ध शीला ने खुला प्रश्न किया। अत्यधिक अपनत्व से ही प्रश्न किया गया था।

"चलिये, आप को घर तक पहुँचा दूं। मार्ग में बातें भी होती जायेंगी।" प्रश्न टालने के लिये ऋचा बोली। वास्तव

में वह इस अचानक प्रश्न के लिये तैयार भी न थी।

"आपके साथ तो न चल सकूंगी। मेरी साइकिल खड़ी है, आप मेरे प्रश्न का उत्तर दें। मुझे मालूम है विनय से आपकी बनती नहीं। अभी परसों ही क्लब में विनय मुझे बता रहे थे।"

संयमित स्वर में तनिक कठोरता से ऋचा ने कहा—"नहीं बहिन, यह बात तो नहीं है। मैं तो बहुत सुखी हूँ। सच-मुच उन जैसे देवता भी संसार में बहुत नहीं होते।"

शीला मुस्कराई, मन ही मन बोली—"हाय री अज्ञान नारी, तुम्हीं सुखी हो। पति के दोषों पर, अनेकों दोषों पर तुम्हारी दृष्टि पड़ती ही नहीं, किन्तु एक आध गुण चमक २ कर तुम्हें प्रभावित कर डालता है। हाय रे!"

"तब फिर जो कुछ आप कह रहीं थीं, अपने अनुभव से कह रही थीं? नारी को क्या सचमुच ही त्याग में आनन्द आता है? दासता की भावना जनित पीड़ा नहीं मिलती क्या? वह जब उससे जबरदस्ती करवाया जाता है, तब भी नहीं?" शीला ने पूछा।

"नहीं, तब भी नहीं बहिन, नारी का अभिमान ही उसका शत्रु है। अग्नि को साक्षी करके जिसको सर्वस्व अर्पण कर दिया उससे फिर अभिमान ही बचाकर क्यों रखा जाये? वह भी क्यों न उसी समय हँसते-हँसते समर्पण कर दिया जाये। यह दासता नहीं है, कठोरतापूर्ण शासन से दबना भी नहीं है, केवल मुक्तहस्त दान है। इसी दान में नारी की महानता है, सच ही कह रही हूँ बहिन। जिसे शरीर दिया, हृदय दिया, उसे भला हृदय की अच्छी या बुरी भावनायें ही देने में क्यों कृपणता की

जाये। जब दिया तो सब कुछ ही दे डाला।"

ऋचा के नेत्र चमक रहे थे। उसने पहली ही बार मन खोलकर शीला से बात की थी। शीला ने भी आज जीवन में प्रथमबार वह बात समझने का यत्न किया था, जो उसकी पूज्या मां सदा ही समझाने का यत्न करती रहीं, यद्यपि उनकी वाणी में ओज नहीं था।

"शायद तुम्हीं ठीक कहती हो बहिन।" यत्न करके भी शीला मिसिज विनयकुमार न कह सकी। "किन्तु कितना कठिन है वह दान। तुम धन्य हो, तुम शायद कर सकती हो किन्तु इच्छा करने पर भी हम न कर सकेंगी।" शीला इस बार ऋचा को स्नेह से तुम कह रही थी।

"कर सकोगी, अवश्य कर सकोगी। भारतीय मां का ही दूध तुमने भी पिया है बहिन।"

"आशीर्वाद दो बहिन कि पहले यदि यह सत्य है तो इसे पूरी तरह समझ सकूं। इससे पूर्व स्वीकार करने की क्षमता तो मुझमें नहीं है। अच्छा अब चलें, तुम्हें देर हो रही है। किसी दिन तुम्हारे घर आऊँ मिसिज विनयकुमार?" शीला अनमनी सी हो रही थी।

"अवश्य आयें बहिन। किन्तु मेरा नाम ऋचा है। आने का अनुरोध न भूलें बहिन।" ऋचा भूल ही गई कि वह सभ्य सोसाइटी की भद्र महिला मिसिज कुमार है।

"अच्छा, नमस्ते।" अत्यन्त रूखे स्वर से कहकर बिना प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये शीला चली गई। ऋचा इस लम्बी, पतली, पति द्वारा प्रशंसित कुमारी के विचित्र व्यवहार पर विचार करती कार में आ बैठी। शीला साइकिल के पैडल

भारती हुई सोच रही थी "ओह, मैं भी कैसी मूर्ख हूं कि उस अशिक्षिता नारी के शब्दों में ही सत्य की खोज करने लगी। ओह, क्या यह मेरी भूल थी ?" किन्तु इतने पर भी मन उदास और चिन्तित ही रहा। शाम को खाना मिसिज बोस के घर था। वह भी याद न रहा। सीधी अपने कमरे में जाकर बिना कुछ बोले एक अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने लगी। किन्तु जी न लगा। अतः उपन्यास फेंक कर रवि शर्मा को कल के प्रोग्राम के लिये पत्र लिखने बैठी। मन न जाने कैसा हो रहा था ? लेखनी मेज पर डालकर रेडियो खोल के पलंग पर पड़ रही।

शीला में तीव्र बुद्धि थी। पढ़ने लिखने में उसे रुचि भी थी। काम काज में उस जैसी परिश्रमी लड़की मिलना ही कठिन था। दीन दरिद्र के प्रति उसका सहज स्नेह भी था और उत्कट सेवा करने की अभिलाषा भी, किन्तु पूर्णतया प्राचीन भारतीय नहीं। सदियों की गुलामी के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए साधारण से वातावरण में, सीधी सादी पृष्ठभूमिका में और शिक्षा से उत्पन्न हुई पाश्चात्य ढंग की विचारधारा में कहीं सामञ्जस्य हो ही नहीं पाता था अतः उसका मन प्राण कभी २ अत्यन्त असंयत और बिखरा २ सा हो उठता था। बुद्धिवादी शीला हृदय की दुर्बलताओं की ओर से एक बारगी कपाट दे देना चाहती थी।

पथ

"फिर क्या विचार है सत्य ?"

"अरे भाई परीक्षा परिणाम तो निकलने दो, विचार भी हो जायेगा।"

"नहीं, नहीं, जीवन का पथ यहीं निर्धारित करना होगा, इस प्रकार टालने से काम नहीं चलेगा सत्य ! तुम्हें बाध्य तो किसी प्रकार भी नहीं कर सकूंगा किन्तु यह किसी की भी दृष्टि में अस्पष्ट नहीं है कि मेरी सबसे बड़ी शक्ति तुम्हीं हो सत्य ? जीवन में हम दोनों को एक ही मार्ग निर्धारित करके चलना होगा।" अपने स्वाभाविक कठोर स्वर में रवि ने कहा।

"रवि ! तुम जानते ही हो कि तुम्हारे पथ पर मेरा कभी भी विश्वास नहीं रहा है। तुम भले ही भारत का कल्याण मजदूरों के उद्धार में देखो, किन्तु मेरे विचार से तो भारत कृषिप्रधान देश है, इसकी सच्ची शक्ति तो कृषकों में ही है।"

" किन्तु भाई ! सभ्यता की दौड़ में पुराने हल लेकर तो दौड़ा जा नहीं सकता। कब तक तुम चरखे और करघे को लेकर सृष्टि में जीवित रह सकोगे। जापान चीन सभी को तो अपनी प्राचीन सभ्यता छोड़कर यूरोप की सभ्यता का कुछ न कुछ अंश अपनाना ही पड़ा, फिर भला तुम अपने पुराने राग आलाप कर, अहिंसा का गाना गाकर क्या कर लोगे ?"

"रवि ! पुराना सदा बुरा नहीं हुआ करता, तथा पुरानी

सभ्यता और संस्कृति से आंखें मूंदकर चिपटे रहने की बात भी मैं नहीं कह रहा हूँ, किन्तु पूर्णरूप से अपने को खोकर दूसरों में मिल जाने का नाम मेरी समझ से तो आजादी कदापि नहीं है। दूसरे, मैंने तो बात ही दूसरी ही कही थी। मैं तो कह रहा था देश को इन्डस्ट्रीयलाइज करने के नाम पर जो तुम सारे देश भर में कारखाने बना देना चाहते हो, देश भर के मजदूरों की परिस्थिति सुधारना चाहते हो, वही पर्याप्त नहीं है। मजदूरों का सुधार करते हो तो करो, किन्तु वह रास्ता अधिक दूर का है। मजदूरों की शारीरिक और नैतिक दोनों प्रकार की ही अवस्था दयनीय है। मिल मजदूर भारतीय ग्रामीण जीवन की सादगी, धर्म भीरुता और पवित्रता सब पूरी तरह शराब के नशे में गले-गले तक डुबो चुका है। किन्तु गांवों के किसानों ने अभी तक उसे पूरी तरह खोया नहीं है। आर्थिक अवस्था दोनों की ही बहुत अच्छी नहीं है। जहां मजदूर की आर्थिक और नैतिक दोनों प्रकार की अवस्था सुधारने की आवश्यकता है, वहां किसान की केवल आर्थिक ही। फिर भारत का आदर्श उसके किसान हैं, मजदूर नहीं। किसानों से भारत, भारत है। यह तो मैं कभी भी नहीं कहूंगा कि मजदूरों के लिये आन्दोलन न किया जाये, किन्तु उसी में भारत के जीवन प्राण हैं, यह मैं नहीं मान सकता और फिर एक तीसरी श्रेणी भी तो है, मध्यवर्ग की, जिसकी आर्थिक अवस्था किसान और मजदूर दोनों से भी बुरी है।"

"तब फिर तुम्हारा क्या विचार है ?"

"यही कि हम अपने अपने रास्ते पर चलते जांय, तुम मजदूरों में शिक्षा और जागृति की लहर फैलाओ और मैं ग्राम-

ग्राम में भारत के यशगान गाऊँ। तुम्हें तो मालूम ही है, मुझमें तुम्हारी तरह गरज कर व्याख्यान देने की शक्ति नहीं, केवल नम्र स्वर से निवेदन ही कर सकता हूँ, वही करने दो और उसके लिये उपयुक्त स्थान मिल मजदूर का कवार्टर नहीं है, अपितु किसान का खुला खेत, अनन्त भूमि और खुला आकाश।"

"किसान कवि की भाषा नहीं समझेगा सत्य! नगर में ही रहकर क्यों न अपना कार्यक्षेत्र चुनो भाई।" रवि सचमुच ही सत्येन्द्र को स्नेह करता था। विचारों की भिन्नता होते हुए भी दोनों में घना स्नेह था।

"सचमुच ही किसान कवि की भाषा नहीं समझता किन्तु हृदय हृदय की भाषा समझता है। नगर में मानव हृदय है ही कहां? रवि! मेरी ऋची को ही देख लो। स्फटिक मणि के समान स्वच्छ हृदय और दूध के समान पवित्र चरित्र लेकर नगर में प्रवेश किया था। तुमने तो उस अनुपम रत्न का आदर ही नहीं किया। उस विनय ने भी उसे समझने का यत्न नहीं किया। उस अभागी का दोष केवल इतना ही है कि वह शहर की कृत्रिम भाषा समझ नहीं पाती और सोच नहीं पाती। नहीं, नहीं, भाई! मुझे तो ग्राम की वायु में ही सांस लेने दो। नगर का दम घोटने वाला वातावरण मेरे लिये नहीं है।"

पिछले कई वर्षों से एकदम चुप रहने वाले सत्येन्द्र से आज इतनी बातें इकट्ठा सुनकर रवि शर्मा आश्चर्यान्वित हो उठा। ऋची का कुन्दनकली का सा मुख कमल भी उसके सम्मुख जाग उठा।

"रिची सुखी नहीं है क्या सत?" अत्यन्त दुःखी होकर रवि ने पूछा।

"सो जानने का तुम्हें अधिकार ही कहां है रवि ? एक दिन जान बूझकर जो सर्वस्व देना चाहती थी उसे ठुकरा कर आज उसका एक अंश पाने का यत्न न करो ।"

"ठीक है भाई।" रवि दोनों पैर फैलाकर आरामकुर्सी पर पड़ रहा। क्लब में अचानक मिलने के बाद ही उसे रह रहकर ऋचा का भोला मुखड़ा याद आ रहा था। आज फिर उसी घाव को सत्येन्द्र ने छेड़ दिया। रवि चोट न सहन कर सका। सत्येन्द्र भी चुपचाप एक पुस्तक देखने लगा। उसका निचला होंठ रह रहकर काप उठता था। माँ की कही हुई बात उसे अनेकों ही बार याद आई थी और सबसे अधिक ऋचा की विवाह वाली रात्रि की, आज फिर वही बात उसका हृदय कचोटने लगी। मां ने उस दिन कहा था—"सत्य ! रिची तेरी बहिन है, इसके सुख दुःख का सदा ध्यान रखना। इस भार से कभी जाने या अनजाने में भी छुटकारा पाने का यत्न न करना। वह तेरी सगी बहिन नहीं इस भाव को भूलकर भी हृदय में न लाना। इसी भरोसे इस मातृ-पितृहीन लड़की का भार आज तक संभाल सकी हूँ।" कहकर मां चुप रह गई।

जितना ही सत्येन्द्र इसे भुलाने का यत्न करता यह बात याद आ ही जाती थी। हृदय से इस असम्भव कर्तव्य भार को ठेल ठाल कर सत्येन्द्र यह भुलाने का यत्न करता कि रिची को सुखी करना उसका ही कर्तव्य है। विनय पर तो उसकी किसी दिन भी श्रद्धा नहीं थी और अब तो बिल्कुल भी नहीं रही थी। उसे ज्ञात होता था कि विनय जानकर ही उसकी साध्वी बहिन को कष्ट दे रहा है और उसका हृदय रो उठता। शान्ति का अनुभव उससे दूर हो रहा था। रवि के हृदय में भी भयंकर

आंधी चला करती थी। दोनों ही ऊपर से शान्त थे, शीतल थे किन्तु भीतर ही भीतर ज्वालामुखी भभक रही थी।

रवि को आँखें मूँदे पड़ा छोड़ कर ही सत्येन्द्र उस जलती दुपहरी में साइकिल उठाकर क्लब रोड की ओर चल दिया। उसे ऋचा को देखे प्रायः दो मास हो गये थे कई बार इच्छा करने पर भी परीक्षा के झंझट में जा नहीं सका था। माँ की चिट्ठी भी आई थी कि यदि हो सके तो ऋची को भी कुछ दिनों को लेता आ, शायद ऋची को भी लिखा हो।

साइकिल पोर्च में खड़ी कर सत्येन्द्र दम भर में ऋचा के कमरे में जा पहुँचा। ठीक कमरे के बीचोबीच ऋचा मशीन रखे बैठी कुछ सी रही थी। चारों ओर अनेकों कपड़े बिखरे पड़े थे। सत्येन्द्र को देखते ही ऋचा नन्हीं बच्ची की तरह बिखर कर सत्येन्द्र के गले लग गई।

"भईया! दो महीने बाद हमारी सुध आई। वह तो तुमसे इस बीच में कई बार मिल आये लेकिन तुम एक बार भी नहीं आये।"

"तू तो रिची मिलने नहीं आई ना?"

"हूँ, मैं तुम्हारे होस्टल में कैसे आती?"

"क्यों पैरों से कार में चढ़ती और चली आती।" दोनों भाई बहिन हंसने लगे। उस निर्मल हंसी में सत्येन्द्र का विषाद धुलकर बह गया।

विनय घर पर न था। सत्येन्द्र वहीं बैठकर ऋचा से बातें करने लगा।

"क्यों री, तुझे इतने कुरतों की क्या जरूरत पड़ गई?"

"क्यों, यहां इतने लोग हैं उन सब को क्या उतने ठीक

कुरते सीने आते हैं और फिर उन्हें समय भी तो नहीं मिलता। बच्चे नंगे फिरते रहते हैं।" भोली ऋचा प्रसन्नता से कह रही थी।

"कौन लोग री?"

"यही सब लोग जो यहां कोठियों में काम करते हैं।"

"तो तू उन सब की दर्जिन है? हां, मां तो सुनकर खूब खुश होंगी कि बेटी आई०सी०एस० के घर जाकर भी दर्जिन बनी।"

"तुम अब भी मुझे चिढ़ाया ही करोगे? अब तो मैं बड़ी हो गई हूँ।"

"तुझे विनय यह सब व्यर्थ काम करने से रोकता नहीं रिची?"

"हां, तुम लोगों को तो सब काम व्यर्थ लगते हैं। अब दोपहर को बैठी २ क्या करूं? वह भी रोकते तो नहीं किन्तु उन्हें यह सब कुछ पसन्द नहीं है। पर फिर करूं क्या? बताओ तो सही।"

"उपन्यास पढ़ा कर, किसी सखी सहेली से बातें किया कर और कुछ काम न होने पर नौकरों को डांटा कर। गृहिणी बनना तुझे नहीं आया पागल, यही तो गृहिणी के काम हैं।"

"हूँ, और जैसे यह काम ही नहीं है? ओह, मैं तो सचमुच पगली हूँ, भईया को पानी तक नहीं पूछा, बातें ही बनाती रही।"

सत्येन्द्र के मना करते २ भी बिजली की तरह ऋचा स्वयं ही दौड़कर बाहर चली गई। दयावती महरी पास ही सो रही थी किन्तु उसे जगाया नहीं।

सत्येन्द्र सोच रहा था। सच्चा मानव हित सम्बन्धी कार्य कौन सा है? वह था शीला के उत्तेजनापूर्ण व्याख्यान और मौहल्ला प्रचार कार्य?

कार्यक्षेत्र

"महाराजा लोग हैं सरकार! कमी किस बात की है, फिर भी सरकार! हम लोग तो आपका ही कल्याण मनाते हैं ना। हां, हां।"

"गोबिन्द काका! इतनी लम्बी भूमिका किस बात की बँध रही है?"

"हें, हें सरकार! हम भूमिका क्या बाँधेंगे? आपके अन्न से बालबच्चे पलते हैं ना, वही कह रहा हूं।"

"कह डालो काका, कह डालो संकोच न करो। लकड़ी की आवश्यकता है क्या?"

"नहीं सरकार! सो तो आपकी दया है। सरकार की ही छोटी बगीची से एक ठूँठ मिल गया था न।"

"तब फिर?" हुक्के की नली जमीन्दार बाबू के मुँह में थी।

"यही सब सरकार! आपके राज में रहते हैं इसीलिये सोचते हैं। सरकार, छोटे सरकार आये हुए हैं न?"

"हां तो क्या हुआ? सत्येन्द्र ने क्या किया?" रूपेन्द्र ने कुछ चिन्ता से कहा।

"बड़े सरकार की याद आ जाती है मालिक। गोबिन्द सेवक था, पर जो आदर उन्होंने दिया, वह क्या कभी भूलने की चीज है?"

"हां, पर सत्येन्द्र के विषय में क्या कह रहे थे ?"

"कुछ नहीं सरकार, बुढ़ापे में जीभ जरा चलने लगती है, छोटे सरकार तो बड़े समझदार हैं। हां अभी जरा लड़कपन है सो कुछ नहीं दो चार दिन में समझ ही जायेंगे।"

"देखो काका ! साफ साफ बात कहो। पहेलियाँ बूझने का मेरा काम नहीं है। सीधी बात कहो सत्येन्द्र ने क्या किया ?"

"कुछ नहीं सरकार ! जरा लड़कपन है। मेरी जीभ जले, कहां की बात कहां कर बैठा।"

इस बार क्रोध से रूपेन्द्र के होंठ फड़क उठे—"काका जल्दी कहो क्या कहना है ?"

"सरकार ! छोटे सरकार जरा खर्च हाथ रोककर नहीं करते। समझाने पर कह देते हैं कि मेरे भी तो पिता का धन है। सो सरकार.........।"

"गोबिन्द काका, याद रक्खो झूठे के लिए रूपेन्द्र का दण्ड कठोर है। गोबिन्द, सच ही कहो सत्येन्द्र क्या कुछ रुपये फिजूल खर्च करता है ?"

"सरकार ! हिसाब देख लें। कोठी से इस महीने भईया इधर पन्द्रह दिन में दो सौ रुपये ले चुके हैं। भला पूछो कहां खर्च किये ?"

"अच्छा, पन्द्रह दिन में दो सौ........." किन्तु तुरन्त ही सम्भल कर बोले—"अच्छा उससे पूछूँगा, वह व्यर्थ खर्च करने वाला लड़का नहीं है। गोबिन्द काका ! तुम इस समय जाओ, मैं अब कुछ देर आराम करूँगा।"

"सरकार की जय हो। सरकार ! दो चार अम्मियाँ लेता

जाऊँ। बच्चे आम की चटनी बहुत पसन्द करते हैं।" दाँत निकालते हुए गोविन्द काका बोले।

"हां, हां, ले जाओ।" अनमने से रूपेन्द्र बोले।

गोबिन्द काका गांव के वयोवृद्ध पुरुषों में से एक थे। जितने बक्की और मधुरभाषी थे, उतने ही चतुर और नीतिज्ञ। गांव के वासियों में परस्पर भाईयों के झगड़े करवाते, पिता पुत्र के युद्ध से लाभ उठाकर चार पैसे बनाना उनका प्रमुख कार्य था। दाँतों पर चढ़ी हुई कालिमा और भोजनांश मिलकर एक विचित्र दुर्गन्ध सी उनके मुख से उत्पन्न करती है। आंखों के नीचे छाई हुई घनी कालिमा सदा ही उसके पीछे बसने वाली छोटी २ आंखों से शैतानी का भास देती है। किन्तु सभ्य समाज में गोबिन्द काका का बड़ा मान है। पंचायत के मुखिया समाज के अगुआ और ब्राह्मण जाति शिरोमणि गोविन्द शर्मा गाँव के प्राण ही हैं। धर्म के पक्के उनके समान मन्दिर में दो घण्टे प्रातः दो घण्टे सायं नियम से उपासना शायद ही कोई भक्त करता हो। श्राद्ध के दिनों में तो मन्त्रों की बाढ़ सी गोबिन्द शर्मा के मुख में विराजती है। नारी सतीत्व के बड़े भारी पक्षपाती हैं। गोविन्द काका प्रायः कहा करते हैं—"अरे भाई, नगरों में तो स्त्रियां क्या वेसवा हैं, पूरी वेसवा, लेकिन मेरे दम तक इस गांव में तो अधर्म चलेगा नहीं। इस वृद्ध काका की आंखें बन्द होने पर जो तुम बाल बच्चे ठीक समझो करो। यहां तो सती माता की धरती का ही पानी पीते हैं।' किन्तु पिछले ही वर्ष न जाने कैसे उनके विधवा बहिन की अनाथ बाल विधवा संयमी लड़की मां के मरने पर एक साल के अन्दर ही अन्दर नगर के स्त्री-आश्रय घर में पहुँचा दी गई। कोई जानता भी नहीं और काका

से कहने का किसी का साहस भी नहीं। किन्तु मनमोहन शर्मा की विधवा बहिन जब आचार भ्रष्ट हो गई थी तो शर्मा जी ने उस बिचारी को हरिद्वार पहुँचवा कर ही जल ग्रहण किया था। अभी तक शुद्ध पुरातन विचारों के सच्चे पोषक गाँव में गोविन्द शर्मा ही रह गये थे। विवाह से लेकर मृत्यु पर्यन्त सँस्कारों के पुरोहित और नियमों के निर्णायक भी गोविन्द काका ही थे। उनकी बात पर विश्वास न कर सके ऐसे दो ही व्यक्ति गाँव में थे, एक तो वृद्धा रूपेन्द्र की माता और दूसरा युवक सत्येन्द्र। जिस दिन बिना जाने-सुने ही अत्याचारी श्वसुर के कथन पर ही पञ्चायत प्रधान गोविन्द काका ने विधवा दया की माँ को बच्चे सहित घर से निकल जाने की व्यवस्था दे दी थी; क्योंकि दया अब विवाह योग्य हो गई थी तो सत्येन्द्र ने ही गरज कर कहा था—"महाशय जो स्त्री संयम से पिछले दस वर्षों से आपकी हर प्रकार की सेवा करती रही है, आज लड़की विवाह योग्य होते ही दुश्चरित्र हो गई—यह घोर अन्याय है—अधर्म है।" यही नहीं उसने विधवा को अनेक प्रकार से सहायता भी पहुँचाई, यहाँ तक कि नगर के अबलाश्रम में ले जाकर दया की शिक्षा तथा विवाह का प्रबन्ध भी किया। इसी तरह की कई और विरोधी घटनाओं ने गोविन्द काका को सत्येन्द्र का पूरा शत्रु बना दिया। घाव में तो थे ही केवल मौके की प्रतीक्षा थी।

और फिर इतने दिनों बाद घर आकर भाई का प्यारा बनकर सत्येन्द्र जमीन्दार बन बैठे......बिना ही गोविन्द काका का महत्व माने, यह गोविन्द शर्मा भला कैसे सह सकेंगे।

इधर रूपेन्द्र ने दीवान साहब को बुला भेजा। वृद्ध

दीवान हरि शर्मा फौरन ही उपस्थित हुए।

"हरि काका, सत्येन्द्र तुमसे इस मास में कितने रुपये ले चुका है?"

"बही देख कर बता सकूंगा।"

"लगभग ही बता दो काका?"

"कोई डेढ़ सौ होंगे?"

"इन्हीं पन्द्रह दिनों में डेढ़ सौ रुपये उसने क्या किये, यह तो बताओ?"

"भईया, मैं क्या जानूं? कुछ दान-पुण्य ही किये होंगे।"

"कोई हिसाब दिया है?"

"इसकी मैंने कोई आवश्यकता ही नहीं समझी भईया राजा?"

"क्यों नहीं समझी दीवान साहब। सत अभी लड़का ही है। इतने रुपये हाथ आने पर क्या करेगा, कौन ठिकाना। दस-बीस-पचास से अधिक रुपये मुझ से बिना पूछे न दिया करो। समझे!"

"जो हुक्म।" वृद्ध दीवान शङ्कित मन से चला गया। यही तो इस घर की परम्परा रही है। बड़े सरकार की मृत्यु के पश्चात् सदा ही यह लड़का दीवान साहब से इच्छानुसार रुपये लेता रहा है, कभी कोई नियन्त्रण नहीं किया गया। जब वह नगर के कटु वातावरण में था तब भी नहीं। आज अवश्य किसी दुष्ट ने सरकार के कान भरे हैं। रूपेन्द्र में हजार गुण होते हुए भी कान का कच्चा है। दीवान शङ्का से भर उठा।

रात को ग्यारह बजे के लगभग पसीने से लथपथ सत्येन्द्र

घर में आया। रूपेन्द्र मां के पास बैठा सत्येन्द्र की प्रतीक्षा कर रहा था। माँ ने पुत्र के फीके मुँह की ओर देख कर कहा—

"सत, इतनी देर कहाँ लगा दी बेटा? नगर से आकर कुछ दिन भी विश्राम नहीं किया।"

"माँ, कुछ काम था। ओह भईया भी अभी यहीं बैठे हैं!"

"हाँ, तुम्हारी प्रतीक्षा थी, कहाँ गये थे?"

"भईया, मटिया महल तक गया था।"

"क्यों भला? उन चमारों के गाँव में क्या करने गये थे? अरे! साईकिल पर बाईस कोस धूप में गये आये और अब रात को घर पहुंचे हो, क्या काम था?" रूपेन्द्र का स्वर कठोर था।

माँ को यह कुछ अच्छा सा नहीं लगा किन्तु सदा की सहनशील माँ चुप ही रही।

"भईया, रमईया जो अपने यहाँ खेत जोत रहा था कई दिन से बीमार था। मैं उधर खेत की तरफ चला गया, दिखाई नहीं दिया तो उसके लड़के से पूछा। उसी से मालूम पड़ा कि वह कई दिन से बीमार था। उसे ही आज भी देखने चला गया। पहले भी जाता रहा हूं।" सत्येन्द्र का स्वर अत्यन्त नम्र था।

"फिर क्या देख डाला?" व्यङ्ग से रूप ने कहा।

"भईया, बुरी दशा है। सारा गाँव ही मलेरिया से तड़फ रहा है।" स्वर में दुःख था।

"तब तुमने क्या कर लिया?" व्यङ्ग कठोर था।

अब सत्येन्द्र मां के पास ही तख्त पर बैठ गया, शायद

उससे खड़ा नहीं रहा गया।

"मैंने परसों दीवान साहब से कुछ रुपये लेकर नगर से डाक्टर बुलवाया और कुनीन भी बँटवाई। आज फिर डाक्टर आया था। उसे स्टेशन छोड़ कर आते आते देर हो गई।"

"तभी, इसीलिए डेढ़ सौ रुपये खर्च कर चुके हो।"

"हाँ भइया, इसी में खर्च हो गये। शायद और भी आवश्यकता पड़े।" अत्यन्त स्वाभाविक स्वर में सत्येन्द्र ने कहा।

"हूँ" कह कर रूपेन्द्र कई मिनट चुप रहा। माँ भी चुप रही। कुछ ठहर कर रूपेन्द्र बोला—

"अच्छा, अब जाकर कुछ खा-पी लो, फिर विश्राम करो। किन्तु देखो रुपये जब आवश्यकता हो, मुझ से कह कर लिया करो। अच्छा, माँ जाता हूं।"

रूपेन्द्र चला गया। माँ इस नई आज्ञा का प्रतिरोध तो न कर सकीं, किन्तु मुँह अवश्य भारी पड़ गया। धीरे धीरे पास खींच कर उन्होंने इस विनम्र, तेजस्वी, पर दुःख-कातर पुत्र का पसीने के कणों से पूर्ण माथा चूम लिया। कौन जानता है सहानुभूति से अथवा हार्दिक आशीर्वाद का प्रतीक।

शीला

मायाविनी नारी में एक आकर्षण शक्ति है और वह है उसकी उपेक्षा। पुरुष नारी के प्रेम को तो सह लेता है किन्तु उसकी उदासीनता को नहीं सह पाता। नारी को भी इस प्रकार की उदासीनता से एक प्रकार का सन्तोष सा ही होता है। पुरुष जितना ही झुकता है नारी उतनी ही तनती है, यही सृष्टि का रहस्य है।

रवि शर्मा जब बाल स्वभाव, भावनाहीन युवक था तो अनजाने ही शीला उसकी ओर खिंचती चली गई। उसकी लापरवाही, मीठा तिरस्कार और रूखा व्यवहार शीला के हृदय में नारी के तीव्र हार की तरह गड़ गया। वह उसे सह न सकी और रवि की ओर खिंचती ही गई। किन्तु जब रवि स्वयं ही उसकी ओर खिंचने लगा और जब वह लापरवाही, आदर और मान में बदल गई, तिरस्कार उपहास में बदल गया तो शीला की विजय पूरी हो गई। उसे जान पड़ने लगा कि रवि शर्मा उसका हो ही गया है, अब कहीं जा न सकेगा। उसका आकर्षण भी कम हो गया। वह रवि का आदर तो अब भी करती है, किन्तु छाया की तरह उसका पीछा नहीं करती—करने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। जितनी ही अधिक वह खिंचती है उतना ही अधिक रवि उसके लिये व्याकुल होने लगता है। उसे स्वयं अपनी दुर्बलता पर लज्जा आती है, किन्तु उससे बचने का

उपाय सूझ नहीं पड़ता। चुम्बक उसे बेतरह खींच रहा है, और वह खिंचा जा रहा है। अब पहले की तरह मीटिङ्ग में शीला का न होना उसके लिये साधारण सी बात नहीं होती। किसी भी काम में वह जान-बूझ कर शीला की ड्यूटी अपने साथ ही रखता है। शीला के कुछ बहाना करने पर भी नहीं मानता। उसे शीला का सुरेश से हँसना-बोलना भी भला नहीं लगता, किन्तु लाचार है। उसी दिन जब उसने चिढ़ कर कहा था—"शीला, तू आजकल बहुत मुखरा हो गई है, लड़कियों का इतना लड़कों में हँसना-बोलना अच्छा नहीं।" तो उसने तड़क कर उत्तर दिया था—"ओह, प्रगतिशील दल के प्रधान! तुमने सोलहवीं सदी के विचार कहाँ से उधार लिये और फिर मैं तुम्हारी मँगेतर नहीं हूं, यह रोब किसी बिचारी सीधी-सादी गाँव की लड़की पर चलाना।"

किन्तु यह सब रवि के लिए काल बन रहा है। उसकी इच्छा होती कि है कुछ दिनों के लिये शीला की छाया से भी परे कहीं चला जाऊँ, किन्तु जाये कहाँ? घर नहीं, माँ नहीं, बाप नहीं, बहन भी नहीं। जीवन में घर का सुख उसने केवल एक बार सत्येन्द्र के घर पाया था। किन्तु वह रास्ता भी वह स्वयं ही बन्द कर आया है। 'ओह! ऋचा कितनी भोली लड़की थी, कितनी सुशील थी?' ऋचा का काफी रङ्ग की बनारसी साड़ी सहित छोटी सी बिन्दी धारण किये मुख उसकी स्मृति में घूम जाता है। जलती हुई लाल सौभाग्य बिन्दी मानों उसे सचेत करती है कि अब यह कल्पना भी तुम्हारे लिए भयङ्कर है। किन्तु वह अपने आप को इस सुख से वञ्चित नहीं कर पाता, करना चाहता भी नहीं, किन्तु उसी समय मस्तक में शीला का तेजपूर्ण

मुख अनजाने ही आकर उस लज्जाशीला नत-मस्तका को पूर्ण रूप से ढकेल देता है। युवक रवि इन विचारों को ठेल-ठाल कर निकाल बाहर करना चाहता है, किन्तु वह उस पर अधिकाधिक अधिकार जमाये चले जाते हैं। ऋचा का वह मुख उसे भुलाये नहीं भूलता। हार कर वह शीला की सम्पूर्ण रूप से शरण लेना चाहता है। उसकी इच्छा होती है कि हर समय शीला के साथ ही रहकर उस स्वयं ठुकराई वस्तु को भूल सके, किन्तु शीला वह अवसर ही कहां देती है? भयङ्कर संघर्ष है। सत्येन्द्र भी घर चला गया है। रवि का सुख उसका निश्चित एकान्त दर्प कभी का चूर्ण हो चुका है।

ऋचा का सौभाग्य-सुषमा पूर्ण मुख एक और व्यक्ति के हृदय में भी मीठी जलन उत्पन्न कर चुका है। वह है शीला— "किसी दिन विनय मेरा था, एकान्त मेरा, एक संकेत मात्र पर ही मैं उस स्थान को सहज ही अधिकारिणी हो सकती थी जो आज इस गँवार लड़की का है।" शीला भुलाने पर भी नहीं भुला पाती, यद्यपि उसका उदार हृदय ऋचा को स्नेह भी करता था। "क्या विनय कुछ देर ठहर नहीं सकता था? मेरी प्रतीक्षा करनी ही उसे उचित थी। वह मेरा था, मेरा है।" कह कर आज भी शीला का हृदय विनय को जीत लेना चाहता था। उसे हार में आनन्द नहीं आता था, वरन सृष्टि भर को हराने में ही आनन्द था। उसने कठोर तपस्वी रवि का मान भङ्ग किया तो क्या दुर्बल विनय को परास्त नहीं कर सकेगी। नहीं, नहीं, वह ऐसा न करेगी। ऋचा के सौभाग्य में आग उससे न लगाई जायेगी। और फिर लाभ भी क्या? समाज की दृष्टि में तो विनय उसका न हो सकेगा। "ओह! मुझे समाज से क्या लेना

है ? यूरुप में भी तो समाज है, वहां भी तो इच्छानुसार स्त्री-पुरुष तलाक ले सकते हैं। और ऋचा मेरी कौन है ? मैं उसके लिए त्याग क्यों करूं ? त्याग है ही क्या ? नहीं, नहीं विनय अवश्य मेरा होगा। आज नहीं तो कल अवश्य होगा। और रवि ?" इस बार विचार-धारा रवि की ओर मुड़ी—"उसे मैं जीत चुकी हूँ, अच्छा है बेचारा अब तो एकान्त मेरा ही है। मैं उसी में सन्तुष्ट रहूँगी। जाने दो, विनय का मुझे क्या करना है ? रवि मेरा है, वही मेरा बना रहे।"

एक अङ्गड़ाई लेकर शीला उठ खड़ी हुई। सुबह से इन्हीं विचारों की शृङ्खला बुनते बुनते दस बज गये। आज उसे रवि शर्मा से मिलने की इच्छा हुई। स्वतन्त्र प्रकृति, उच्छृङ्खल नारी इस इच्छा का दमन न कर सकी। झटपट एक साड़ी निकाल कर गुसलखाने में चली गई। पीछे से कमरे में चाय भी आ गई थी। बाल बनाते बनाते शीला ने कई बार सोचा, 'यह रवि मेरा कौन है ? मैं इसके लिए क्यों कभी कभी व्याकुल हो जाती हूं ? क्या मां का ही कहना ठीक है कि अग्नि और घी पास नहीं होने चाहिये ? क्या मैं इतनी दुर्बल हूँ ? और फरोयड ?' यहीं शीला का खून जम जाया करता था। 'अच्छा तो भी जो कुछ प्राकृतिक है, स्वाभाविक है उस पर मेरा बस ही क्या है ? तो फिर विवाह, घर, बाल-बच्चे, अरे नहीं, नहीं क्या व्यर्थ की बातें सोच रही हूँ !' शीला स्वयं ही अपनी मूर्खता पर खिल-खिला के हँस पड़ी, किन्तु अनजाने ही उसे कहीं एक अभाव सा जान पड़ा। शीला चाय का प्याला ले बैठी, आज उसने बाल कुछ अधिक देर में और अधिक आकर्षण ढङ्ग से बना लिये थे। काजल भी अधिक बारीक और चमकीला था।

"तुम नहीं आते तो नहीं आओ,
याद से कह दो कि वह भी न आवे।"

गुनगुनाती हुई शीला साइकिल पकड़ के चल दी। उस समय ग्यारह बजे थे। जाते जाते माँ से भी कहती गई कि मैं आज खाना भी नहीं खाऊँगी और शाम से पूर्व आऊँगी भी नहीं।

माँ को आज सुबह से ही बुखार था, किन्तु शीला को तो पता भी नहीं था। पति एक सप्ताह से ननद के घर गये हुए थे। अकेली घर में पड़ी हुई माँ ने अभिमान के मारे लड़की से ज्वर की बात भी नहीं कही, केवल कहा—"अच्छा।" ससुराल से आई हुई लड़की विमला ने जब आकर मुँह बोली मौसी के चरण छुए तो उसके उज्ज्वल ललाट पर सौभाग्य-बिन्दु देखकर माँ का हृदय मानों तप्त लोहे से दाग दिया गया। मेरी शीला इस लड़की से दो साल बड़ी ही है, फिर भी अभी तक हाथ पीले नहीं कर सकी। सम्भल कर आँखों के आँसू आँखों में ही पी कर माँ ने कहा—"कब आई विमला, कभी चिट्ठी-पत्री तो दे दिया कर री, तेरी माँ तो रो-रो कर पागल हुई जाती है। जरा दस पन्द्रह दिन हुए तेरी चिट्ठी आये तो घबराने लगती है।" माँ के अपने आँसुओं और उसकी माँ के रोने में कितनी बड़ी खाई थी यह उस युवती ने नहीं समझा। सहज ही हँस कर बोली—"और मौसी, तुम भी तो जान पड़ता है मरी जा रही हो। भला मुझे गये दो ही तो साल हुए हैं, कितनी घुल गई हो। तबियत तो ठीक रहती है?"

मन की व्यथा मन में ही दबाकर माँ ने कहा—"कहाँ, तबियत ही तो ठीक नहीं रहती। इधर बुखार भी आने लगा है।"

"देखूं।" कहकर पराई लड़की ने जो हाथ लगाया तो

सारी देह तप रही थी।

"अरे यह तो खूब बुखार चढ़ा है। मौसी तनिक खाट बिछाती हूँ लेट तो रहो।"

मां के नहीं २ करते २ विमला खाट उठा लाई। फिर कमरे में से एक खेस और तकिया लाकर बरामदे में ही बिस्तर बिछा दिया। वह इस घर की चिर परिचिता थी। शीला और वह साथ २ खेली, लड़ी, पढ़ी, और बड़ी हुई थी। उसने एफ०ए० तक ही शिक्षा पाई थी। लीडर बनने की क्षमता भी नहीं थी, इच्छा भी नहीं, और सबसे प्रथम माता पिता की आज्ञा भी नहीं। साधारण लड़कियों की तरह उसने विवाह करके पति की गृहस्थी सम्भालनी आरम्भ कर दी थी। उधर शीला बी०ए० भी कर चुकी थी तथा क्षमता शीला लीडर भी थी। यहां आकर दोनों के मार्ग भिन्न २ हो गये थे। फिर भी दोनों का पुराना प्रेम अभी किसी अंश में जीवित था।

"अरी तनिक बैठ तो। लड़की ससुराल से इतने दिन पीछे आई है, कुछ खातिर करूं सो तो हुआ नहीं और सेवा ही करवा रही हूँ।" कुछ दुःखित स्वर में मां ने कहा।

"तो मौसी नहीं हो क्या? अपनी मां का काम मैं नहीं करती तो कौन करता है? और वहां भी......" कहते २ विमला कुछ झेंप गई।

"कह, कह, वहां कौन २ से काम करती है?" उत्सुकता से मां ने कहा।

"वहां बूढ़ी मां है, उनकी सेवा मैं ही करती हूँ। बहिन जी भी वहीं रहती हैं, उनके बाल बच्चे मुझसे ऐसे हिल गये हैं कि मंझला लड़का बब्बू तो साथ ही आया है।"

"अच्छा तो उसे यहां क्यों नहीं ले आई। आवाज दे ले ना ? मैं भी देखूं।" दोनों के घर मिले हुये थे।

"वह अभी सोया है मौसी, फिर लाऊंगी।" मां को मालूम था कि विमला की बूढ़ी सास, और विधवा ननद भी वहीं रहती हैं।

"अच्छा तो चिट्ठी क्यों नहीं लिखती ?"

"मौसी, दिन भर दम मारने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। सास ठहरी बूढ़ी, उनसे काम होता नहीं। ननद जी के छोटे बच्चे हैं तो फिर काम मैं न करूं तो कौन करे ? नौकरों के हाथ का तो खाना भी वहां किसी को भाता नहीं।"

विवाह पर ही विमला की ननद का अभिमानी स्वभाव देखकर यह दोनों सखियां लड़की के भाग्य के विषय में डर रही थीं। उसी ननद की कोई शिकायत न सुनकर मां ने इस कामकाजी लड़की की ओर श्रद्धा से देखा।

शीला की मां का मुंह सूखा २ दीख रहा था।

सहसा विमला ने पूछा—"मौसी, तुमने खाया क्या है ?"

"खा लूंगी। अभी बजा ही क्या है ?" संकोच से प्रश्न उड़ाने की दृष्टि से मां ने कहा।

"वाह, वाह, तीन बज रहे हैं, अभी बजा ही क्या है ? तनिक साबूदाना बना देती हूँ। मौसी, भंडारघर में दूध रक्खा है या रसोई में ?"

विमला को मालूम था शीला समय कुसमय चाय की मांग करती है इसीलिये मौसी घर में हर समय दूध अवश्य रखती है।

"अरी रहने भी दे। मुझे भूख नहीं है। जरा देर मेरे पास बैठकर बात ही कर।" यद्यपि कमजोरी से मां का शरीर

निढाल हो रहा था, उसने कल रात भी अन्न नहीं छुआ था, और पूछने पर भी लड़की से कहा भी नहीं था।

"अभी आई मौसी" कहती हुई पराई लड़की भण्डार-घर में घुस गई।

इस परायी लड़की की सेवा और सहानुभूति मां को कांटे की तरह खटकने लगी। अगर विमला आज लापरवाही दिखाकर चली जाती तो मां को प्रसन्नता ही होती किन्तु इस सेवा और यत्न ने उसके हृदय में आग लगा दी। मेरी अपने पेट की लड़की बिना बताये यह भी जानने की परवाह नहीं करती कि मां चौबीस घंटे से ज्वर और अन्न बिना तड़फ रही है, उसे घूमने फिरने से समय नहीं मिलता, तो यह परायी लड़की ही मेरी दीन दशा पर क्यों कृपा करे? यह मेरी कौन है और मैं ही इसकी सेवा क्यों ग्रहण करूं? जिसकी सेवा ग्रहण करने का मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है जब वही वह अधिकार मुझे देना नहीं चाहती तो दूसरों से दान में यह मैं न लूंगी। मां को तेजी से रुलाई आने लगी। चुपचाप आंसू पोंछती हुई पड़ी रही।

इसी समय परायी लड़की कटोरे में कुछ ठन्डा किया हुआ साबूदाना लेकर आ खड़ी हुई।

"मौसी, चटपट थोड़ा सा खा तो डालो।" अधिकारपूर्ण आज्ञा सुनकर मां किसी तरह भी 'नहीं' न कर सकी। उठकर खाने लगी। इसी बीच में विमला मां का। सावन-भादों के बादलों की तरह गम्भीर मुख देखकर चौंक उठी। कुछ २ मां की व्यथा शायद वह समझ गई। वह सोच रही थी शीला कालेज गई है?

"मौसी, शीला कालेज गई है ?"

"मैं क्या जानूं बेटा कहां गई है ? किसी मीटिंग-शीटिंग में गई होगी ? वह क्या घर रहती है। सारे दिन शहर भर में घूमकर न जाने किन किन का सुधार करती फिरती है।"

"एम०ए० ज्वाइन नहीं किया ?"

"अब एम०ए० करके और क्या कर लेगी विमला ! मैं तो इतना पढ़ा कर ही अपने कर्मों को रो रही हूँ।" वृद्धा फूट पड़ी।

मां की व्यथा विमला से छिपी न रही। मां को और अधिक न छेड़ने की दृष्टि से उसने कहा —"अच्छा मौसी, बब्बू उठ गया होगा, जाऊँ देख आऊँ। मुझे न देखेगा तो रोने लगेगा। शाम को फिर आऊँगी। मौसा तो है नहीं। शीला मेरे साथ खाना खा लेगी, तुम उठना नहीं। शाम को भइया को भी ले आऊँगी, कुछ दवा दे देंगे। मां आगई होगीं तो उन्हें भेज देती हूँ।" वात्सल्यपूर्ण दृष्टि विमला के सौम्य मुख पर चमक उठी।

विमला सुन्दर नहीं थी। साधारण देखने सुनने में भी अच्छी नहीं। उसका रंग सांवला था। कुछ मोटी भी थी। नाक नकशा भी कुछ आकर्षक न था। शीला के सम्मुख तो वह बड़ी भद्दी दीखती थी। फिर भी आज जो लावण्य माँ ने इस ममता-मयी लड़की के काले चेहरे पर देखा, वह सुन्दरी शीला के चेहरे पर किसी दिन भी दिखाई न पड़ा।

"रहने भी दे, मुझे हुआ ही क्या है ? इतने सेवा यत्न करने पर क्या यमराज तेरी मौसी को भूल जायेंगे ?"

"ऐसी बोली न बोलो मौसी ?"

"अच्छा शाम को एक बार आईयो। बिछिया शीला

को भी समझा। बैठ तनिक। शादी को राजी ही नहीं होती। तेरे मौसा ने यह सम्बन्ध बड़ी कठिनाई से किया है। नहीं तो उस घर का लड़का हमारे घर में पदधूलि कहां दे सकता है?"

"कहां ठहरी है मौसी?" कुछ सोच कर विमला ने पूछा।

"अरी हां, तेरे ही गांव के तो कोई जिमीदार हैं। भला सा नाम है रूपेन्द्र कुमार। उनका छोटा भाई है। कालेज में बी० ए० तक पढ़ा है। देखने सुनने में सीधा जैसे गऊ। घर के लोग सुना है देवता हैं। भाई ने जब लड़के से शादी की बात की तो इतना बड़ा लड़का पैर छूकर बोला 'भईया तुम्हारी आज्ञा ही काफी है।' ऐसा लड़का विमला और कहाँ मिलेगा और यह मैं कहे रखती हूँ कि इस अभागी की और किसी के साथ गुजर होनी भी कठिन है। वह बेचारा तो जैसी तैसी सम्भाल ही लेगा। भाई तो मानता ही न था। इनका पुराना मित्र था। इन्होंने पैरों पर टोपी रख कर मनाया, किन्तु इस अभागी ने सब गुड़ गोबर कर दिया। अब प्राण पिये जा रही है, कहती है आप वर ढूढ़ूंगी। कुछ समझ नहीं पड़ती क्या करूँ? तू तो मेरी बेटी ही है, मां की व्यथा तू न समझेगी तो कौन समझेगा। विमला किसी तरह शीला को समझा।"

विमला कुछ देर सोचती सी बैठी रही।

"मां, वहीं तो मेरे श्वसुर काम करते हैं। वही लोग हमारे जमीन्दार हैं। उन्हीं के यहां मेरे ससुर दीवान हैं। वास्तव में घर और वर दोनों ही अनुपम हैं। शीला ने लड़के को देखा भी है। यहीं शीला के साथ पढ़ता था। घर के लोग भी बड़े अच्छे हैं और हम दोनों बहिनें भी मिल जायेंगी।"

"फिर तो मैं निश्चिन्त हो जाऊंगी बेटा, तू किसी तरह यह काम करा दे।" अत्यन्त गिड़गिड़ाकर मां ने विमला का हाथ पकड़ लिया।

"अधीर न हो मौसी, यत्न करूंगी। आशा है शीला मान लेगी। उसे सत्येन्द्र की बात मालूम न होगी। किन्तु वह नगर छोड़कर गांव में जाना शायद ही पसन्द करे। खैर, मौसी तुम शान्त हो, मैं पूरा प्रयत्न करूंगी।" कहकर विमला उठ खड़ी हुई।

विमला लड़कपन से ही शीला को प्यार करती थी। शीला उससे रूप और गुण दोनों में ही बढ़ी चढ़ी है। यही सत्य उसने बचपन से जाना था। सदा शीला का नेतृत्व सहना ही सीखा था। आज शीला के इतने बड़े सौभाग्य की बात सुन कर उसका हृदय आनन्द और अभिमान से फूल उठा। वास्तव में उसकी सखि रूप और गुण में ही नहीं, भाग्य में भी अति उच्च है। उसे पूर्ण विश्वास था कि शीला अवश्य मान जायेगी।

शीला के कालेज के थर्ड ईयर के दिन उसे आज भी याद हैं, जब आरम्भ में शीला सत्येन्द्र की कविता के किस प्रकार तारीफों के पुल बांध देती थी। इन दो तीन सालों से वह यहां नहीं थी, फिर भी उसे विश्वास था कि समय की गहरी खाई ने वह प्रशंसात्मक भाव बढ़ाये ही होंगे, घटाये नहीं। किन्तु, विमला को क्या मालूम था शीला फरोयड की साईकौलोजी भी पढ़ चुकी है और योरुप के नारी समाज को अपना आदर्श भी मान चुकी है। सत्येन्द्र ने जब कभी भी उसकी ओर न तो उदासीनता ही दिखाई ताकि वह उसे परास्त करने का यत्न करती, और न

आकर्षण ही ताकि वह उसे ठुकरा सकती, सो शीला उसे भूल सी गई। फिर शीघ्र ही कविता की ओर से ध्यान हटा कर उसे लीडर बनना पड़ा। अतः स्वाभाविक ही था कि चुपचाप धीर, गम्भीर सत्येन्द्र अन्धकार में ही रह जाता। उसकी ओर न शीला ने ही ध्यान देना आवश्यक समझा और न उसने शीला की ओर ही।

इसी बीच क्लब के पुराने साथी विनय ने विलायत से लौटकर शीला की काया ही पलट दी और फिर शीघ्र ही ध्यान रवि शर्मा की ओर केन्द्रित होगया।

विमला बिचारी इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ ही रही। कभी-कभी जाने वाले पत्रों में यह आभास अवश्य होता था कि शीला अब पुरानी शीला नहीं रही, वह अधिक दृढ़, तेजस्विनी और विचित्र हो गई है। इस 'विचित्र' में शायद हृदय की मीठी भावनायें भी मिली हुई हों, यह आशावादी विमला ने आज सोचा। न जाने क्यों उसे प्रबल इच्छा होने लगी कि शीला उससे कह दे "विमला, मैं सत्येन्द्र से प्रेम करती हूं, इसीलिये विवाह से इन्कार कर रही थी।" किन्तु विमला का स्वप्न कोरा स्वप्न ही था।

उधर शीला शाहादरा गांव में प्रचार कार्य करने के पश्चात् थककर मकबरे की हरी-हरी घास में रवि शर्मा के कोट का तकिया लगाये सो रही थी। पास ही बैठा रवि उसके पतले धीरे धीरे हिलते हुये होठों की ओर देख रहा था। आज उसके बड़े ही सुख का दिन था। आज स्वयं कहकर शीला ने अपनी ड्यूटी बदलवाकर उसके साथ लगवाई थी। रास्ते में भी उससे स्मरणीय बातें हुई थीं। शीला ने तो यह भी कहा था कि "रवि

आज का ट्रिप कितना अत्यन्त आनन्ददायक रहा।" कितने आशा जनक शब्द थे। यहां भी वह कितनी ही देर तक बातें करती रहीं। "आज हमने कितना काम किया और कितने उत्साह से। शीला भी मेरे ही जैसे विचारों वाली है, हमारा साथ कितना अच्छा रहे।" सोचते सोचते रवि रुक गया। इसी समय शीला ने करवट ली, मुख दूसरी ओर हो गया। उधर बैठने का स्थान न था। रवि अपनी ही जगह पर पैर फैलाकर लेट गया। "हमारे उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकेगी, जब हम दोनों जीवन-साथी बन जायें।" एक बार फिर उसका दिल काँप उठा। "ओह, मैंने अच्छा ही किया, उस मोम की पुतली से विवाह नहीं किया। कहाँ शीला और कहां वह देहाती लड़की।" किन्तु मानो वह स्वयं ही इस पर विश्वास न कर सका। एक हलका सा धक्का सा लगा। रवि लेटा न रह सका, उठकर टहलने लगा, फिर भी कुछ भला न लगा, इच्छा हुई शीला को जगा ले। किन्तु आज का शीला का अविचलित अत्यधिक परिश्रम याद करके साहस न हुआ। "बिचारी ने सुबह भी दरिद्र स्त्रियों की सहायता में डिपो पर कितने धक्के खाये। हड्डी २ दुखती होगी और उसके बाद भी बराबर साइकिल पर चढ़ी रही, कितना काम किया। सोने दो, जरा विश्राम कर ले। खाना भी कुछ अच्छा नहीं मिल सका। कितनी श्रमशीला है यह बालिका।"

रवि मानो स्वयं अपने आप से थक कर फिर वहीं पैर फैलाकर लेट रहा। इस बार चिड़ियों के उस जोड़े की क्रीड़ा देखने लगा, जो बहुत देर से उनके ही पास खेल रहा था। दोनों का परस्पर चोंचों द्वारा चुम्बन का आदान प्रदान उसे बहुत ही

भला जान पड़ा। न जाने कितनी देर वह उसी तरह देखता रहता, यदि शीला उसका ध्यान भंग न कर देती। वह सो कर उठ चुकी थी। रवि का भक्त की तरह ध्यान लगाना देखकर उसे हँसी आ गई।

"अरे, तुम तो बड़े भक्त हो, खूब ध्यान लगाते हो।"

"और क्या करता शीला, तुम तो सो रही थी।"

"हाँ, यह तो ठीक है, लेकिन मुझे आज नींद कैसे आ गई, मैं तो इस तरह कभी नहीं सोती।"

"बहुत थक गई थी ना ?"

"अच्छा अब चलो, नगर में चलकर काफी हाऊस में एक दो प्याला काफी पी जाये। शरीर बड़ा दुःख रहा है, सिर भी भारी है।"

"शीला, बुखार तो नहीं हो आया।" कहकर अत्यन्त चिन्ता से रवि ने शीला का हाथ थामकर नाड़ी देखने का उपक्रम किया। शीला को भी आज उसकी अवस्था पर दया आ गई। कुछ गर्व भी हुआ। यह वही युवक है ना जो साक्षात् युवती के पैर में कांटा गड़ जाने पर भी मिनट भर के लिये ठहरने की भी कृपा न करता था। स्त्री की आंखों से आसूँ उसके लिये उपहास का साधन मात्र थे। आज उसकी नारी के लिये यह व्यग्रता, यह चिन्ता अवश्य कुछ दयनीय है किन्तु शीला के लिये तो गर्व की वस्तु है ना ?

शीला को भी शायद आज ही मालूम हुआ कि उसका विनय के प्रति प्यार उसके अपने हृदय की भद्दी भूल थी। उसने विनय को कभी भी प्यार नहीं किया था। किन्तु शायद वह रवि को प्यार करने लगी है। सचमुच ही प्रेम करने लगी

है। साईकिल के पैडल मारते मारते शीला गुनगुना रही थी—"फिर क्यों न करूं प्यार उन्हें, क्यों न करूं प्यार।"

रवि चुपचाप था।

हाय

"रिची, तू थोड़ा सो आ, मैं तब तक बैठता हूं।" कमरे में प्रवेश करते हुये सत्येन्द्र ने कहा।

"नहीं भईया, तुम सोओ, मैं प्रातः सो चुकी हूँ।" आराम-कुर्सी पर बैठे ही बैठे ऋचा ने कहा।

"कहां सोई है तू, व्यर्थ तू भी बीमार पड़ जायेगी तो झंझट ही होगा।" सत्येन्द्र ने चिन्ता से कहा, स्वर भी कांप रहा था।

नाईट नर्स चार्ट तैयार कर रही थी। अकस्मात दृष्टि उठाकर बोली—"मेरे रहते हुये तुम दोनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं और विशेषतया इन बीबी जी को तो अब सो जाना चाहिये। मैं तो फिर भी आंख झपक लेती हूं किन्तु इनकी तो दस दिन से पलक ही नहीं गिरी, अवश्य बीमार हो जायेंगी।"

कुछ चिढ़कर ऋचा ने कहा—"नर्स, मैं बीमार नहीं पड़ूंगी, विशेषतया अभी नहीं। तुम अपना काम करो। भईया तुम जाओ सो जाओ। नर्स क्या इतनी सावधानी से आधा २ घंटे बाद पानी पिला सकेगी। तुम्हारी जिद थी, नर्स रख ली

नहीं तो क्या पति की सेवा के लिये स्त्री को किसी की सहायता की आवश्यकता होती है ?"

सत्येन्द्र अपनी बहिन को खूब पहचानता था। चुप चाप चला गया।

बिनयकुमार को टाईफाइड हो गया है, कल से न्यूमोनिया के भी लक्षण हैं। अत्यन्त योग्यतापूर्वक ऋचा ने प्रारम्भ से ही योग्य व्यक्तियों के हाथ में कार्य दिया था। अवस्था चिन्ताजनक है। डाक्टर भी आशा कम ही देते हैं। कल रात से नर्स भी आ गई है। किन्तु शरीर नियम के विरुद्ध न जाने किस धातु की बनी हुई ऋचा रात दिन पति के पास ही बनी रहती है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि कोई उतनी अच्छी तरह विनय की सेवा कर सकेगा। इन दस दिनों में एक बार ऋचा का खाना हुआ है और तीन बार सोना। किसी प्रकार एक आध गिलास दूध पीकर ही दिन बिता देती है। कल तक विनय चेतन था और ऋचा को ढाढ़स भी। कल सन्ध्या से ही विनय अचेतन हो गया है और ऋचा सुन्न। परसों उसने तार देकर अपने और विनय दोनों के घर सूचना दे दी है। सत्येन्द्र कल सुबह आ पहुँचा है और विनय के भाई भाभी कल सन्ध्या को। किन्तु ऋचा को इसकी न कोई सुध है और न चिन्ता।

विनय के परिवार में केवल तीन ही व्यक्ति हैं, विनय की वृद्धा माता, भाई तथा भाभी। भाई लायलपुर में एक बड़ी फर्म के मालिक हैं। यूं तो यह पिता की ही फर्म थी किन्तु बिनयकुमार ने कभी इसमें आनन्द भी नहीं पाया और ध्यान भी नहीं दिया। पिता की मृत्यु के बाद ही कुछ रुपया लेकर विदेश चले गये और फिर आकर आई० सी० एस० थे ही,

अच्छी नौकरी पा गये। दुकान के सम्बन्ध में कुछ चिन्ता करने की आवश्यकता ही न थी। बड़े भाई का भी भाई पर कुछ विशेष प्रेम न था किन्तु कुछ ऐसी अनबन भी न थी। विनयकुमार ने जब भाई के विरोध करने पर भी ऋचा से विवाह कर लिया तो भाभी को अवश्य कुछ बुरा लगा। वह अपनी बुआ की लड़की को पहले ही वचन दे चुकी थी, किन्तु लड़की विनय को पसन्द न थी। भाई भी कुछ अप्रसन्न से ही रहे किन्तु बात कुछ तूल न पकड़ पाई। कल भाई की बीमारी का हाल सुनकर बड़े भाई अपनी पत्नी सहित आगये। नन्हें बच्चे माँ के पास ही रहे।

यह सब कुछ तो हुआ किन्तु ऋचा पत्थर की प्रतिमा की तरह पति के पास ही बैठी रही। एक बार बाहर आकर जेठ को पृथ्वी पर सिर रख कर प्रणाम किया, जेठानी के पैर छुए और उनके साथ ही अन्दर चली गई। न तो पानी को ही पूछा, न खाने को। बूढ़ी दासी नन्दा को सत्येन्द्र साथ ले ही आया था, उससे जो कुछ आदर सत्कार बन पड़ा, किया। ऋचा सत्येन्द्र की ओर भी भर दृष्टि नहीं देख सकी।

दबी जुबान से सरला ने अपने पति विनयकुमार के भाई से पूछा—"यह जवान लड़का कौन है?"

"बहू का भाई है।"

"तुम्हारी बहू के भाई कब से पैदा हो गये? आगे-पीछे तो कोई है ही नहीं। उन लोगों ने पाल कर हमारे लड़के के हवाले कर दिया और बस।" व्यङ्ग से सरला ने कहा।

"उसी घर का लड़का है।"

"तभी, पर वह भाई कैसे हुआ? जब से आई हूँ दिखी, दिखो, करता फिरता है, यह ढङ्ग ठीक नहीं है।"

"भाई, कभी समय तो देखा करो। यह समय क्या इन बातों का है।"

बात आई गई हो गई किन्तु सरला किसी प्रकार भी हार मानने को तैयार न थी, केवल अवकाश की प्रतीक्षा में रही।

कभी कभी कह उठती थी—"कैसी निर्लज्ज है? बड़े आये हुए हैं, उनकी सेवा, सत्कार तो दूर, पति की चारपाई ही नहीं छोड़ती। हमारे भी तो पति कभी बीमार होते हैं।"

चटपट विनय के भाई रामनारायण उत्तर देते—"लजाओगी तो हो नहीं। जैसी सेवा हमारी बहू अपने पति की कर रही है, सावित्री भी नहीं कर सकती थी।"

"वाह री सती सावित्री।" मुँह बिचका कर सरला चुप हो जाती। उसका यह भाव रामनारायण को अच्छा नहीं लगता था। फिर भी परिस्थिति देख कर चुप हो रहते थे।

विनय की अवस्था दिनों दिन बिगड़ती जाती थी। भयङ्कर आशङ्का से सत्येन्द्र का हृदय कांप उठता था। रूपेन्द्र और शिखा भी दो बार देख गये हैं। श्यामसुन्दरी नहीं आई, किन्तु उनकी आँखें न जाने क्यों रात दिन ही गर्म गर्म आँसुओं से भरी रहती हैं? किन्तु ऋचा एक बार भी नहीं रो सकी है। इससे स्वामी का अमङ्गल होगा ना? असह्य वेदना को भी मन ही मन पी जाना ही उसने श्यामसुन्दरी के निकट सीखा था।

चौदहवें दिन विनय ने आँखें खोलीं, शायद पहचाना भी, ऋचा चुपचाप बैठी एकटक देख रही थी। दिन भर में मालूम हुआ कि अवस्था सुधर रही है। डाक्टर भी कुछ आशान्वित हुए हैं। वहीं आरामकुर्सी पर बैठे ही बैठे थक कर

चूर हुआ ऋचा का शरीर कुछ देर के लिए निद्राधीन भी हो गया।

रात के दो बजे विनय ने संकेत से ऋचा को बुलाया। ऋचा ने दो चम्मच ग्लूकोज का पानी मुँह में डाला। डाक्टर ने आज रात ब्राण्डी भी देने को कही थी। नर्स आज बाहर बरामदे में बैठी थी, आवश्यकता पड़ने पर बुला लूँगी, ऋचा ने कहा था। आध घण्टे बाद उसने ब्राण्डी की खुराक दी। विनय के चेहरे पर कुछ रौनक मालूम पड़ी। ऋचा का हृदय कमल खिल उठा। बड़ी कोशिश करके विनय बोला—"ऋची, मैंने बड़ा अन्याय किया।"

"चुप रहो, कोई अन्याय नहीं किया।"

"आज बोल लेने दे रिची! नहीं तो पछतायेगी, अब मैं नहीं बचूँगा। देख रोना नहीं, मेरी बात सुन!.........नहीं तो मरने पर भी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।" विनय के शब्द बहुत धीमे रुक रुक कर और मानों किसी कुयें से आ रहे थे। ऋचा तो मानों पत्थर की ही हो गई।

"रिची, तेरा मूल्य मैं किसी दिन भी नहीं समझ सका। आदर और प्रेम भी नहीं दे सका। तू देवी है, क्षमा कर देना।" कुछ ठहर कर विनय फिर बोला—"रिची, मैंने एक दिन भी तुझे सुख नहीं दिया, तू दूसरा विवाह करके सुखी होना। इसी से मेरी आत्मा तृप्त होगी। मेरे धन का एक कण भी किसी और को न देना रिची। विल न कर सका पर कानून साथ देगा।.........रिची रानी, मुझे भूल जाना। क्षमा करना.........।" विनय को कमजोरी से हलकी सी झपकी आ गई थी। ऋचा पति की छाती के पास ही पलङ्ग पर सिर रखे न जाने

किस लोक में थी। एक-दो वाक्य के अतिरिक्त उसने एक शब्द भी न सुना था, किन्तु घटनावश दो अन्य ही व्यक्ति उसकी सारी बातों का एक-एक अक्षर सुन चुके थे। एक तो सत्येन्द्र जो कि रिची को सोने के लिये कहने आया था और दूसरा रामनारायण जो खटपट का शब्द सुनकर चला आया था। ऋचा को उनकी पदध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ी, वह इस लोक में थी ही नहीं। सत्येन्द्र धम से वहीं पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। रिची की ओर देखने का भी साहस उसमें न था। रामनारायण धीरे धीरे बाहर चला गया।

दुःख की वह रात्रि किस प्रकार कटी सो सत्येन्द्र ही जानता है। सुबह पांच बजे से विनय को कँपकपी आरम्भ हो गई। डाक्टरों ने कहा—सेप्टीसीमिया हो गया, अब बच नहीं सकते।

ऋचा ने सुना भी नहीं, हिली भी नहीं, बोली भी नहीं। केवल एक बार हरिण की सी बड़ी बड़ी आँखें सत्येन्द्र के मुख पर गड़ाकर केवल यही कह सकी—"भईया क्या होगा?"

सत्येन्द्र पन्द्रह दिन से गन्दे पड़े हुए रिची के सिर की मांग के बीच लगे हुए सिन्दूर के सौभाग्य चिन्ह को देख कर कांप उठा। रिची को उत्तर भी न दे सका।

उधर सरला पति से पूछ रही थी—"कुछ लिखा-पढ़ी भी करा ली है?"

रामनारायण ने चिढ़कर कहा—"जब मैं मरूँ तो तुम लिखा-पढ़ी पहले करवा रखना, अभागी!"

सब को अग्नि स्फुलिंगों में जलते छोड़ कर विनय की आत्मा शरीर बन्धन को छोड़ सायङ्काल चार बजे के लगभग

मुक्त हो गई।

ऋचा तब भी चुप थी, बिल्कुल चुप सुन्न। उससे तो हिला भी नहीं जा रहा था।

सरला चिल्ला-चिल्ला कर रो रही थी। उसके बैन करने के बीच में कभी कभी यह वाक्य भी आ जाते थे — "हाय! मेरे राजा देवर तुम्हारा भाग्य। बहू की आंखों में एक आंसू भी नहीं, डायन मेरे सोने से देवर को खा गई हाय······।"

रूपेन्द्र को कभी यह दृश्य देखने की आशा भी न थी। ऋचा की वह मूर्ति देखकर रूपेन्द्र को अपनी मां की वह गम्भीर मूर्ति याद आ गई। वह देवी की प्रतिमा थी किन्तु यहां तो केवल पत्थर की ही प्रतिमा है, मानव शरीर भी नहीं। ऋचा का न वहां शरीर था और न आत्मा। सब कुछ मानों पत्थर ही हो गया था। शिखा के आंसू थमते ही न थे, इसी बच्ची को उसने पाला, बड़ा किया और पत्नी बनाया था। आज यत्न करके भी वह उसकी माथे की उज्वल बिन्दी और मांग सौभाग्य सिन्दूर न पोंछ सकी। विनय को मरघट लेजाने के बाद भी ऋचा उसी प्रकार सिर पट्टी पर रखे बैठी थी। उसे छेड़ने का साहस भी किसी में नहीं था। सत्येन्द्र में भी नहीं, रूपेन्द्र में भी नहीं, यहां तक कि शिखा में भी नहीं। वह पत्थर की मूर्ति जो थी।

अचानक ही दूसरे दिन प्रातः जब वह अचेत होकर गिर पड़ी तो सब ने चारपाई पर डाल कर डाक्टर को फोन किया। सरला फिर भी कह रही थी कि यह सब कुछ ढोंग है। कोठी के बाहर ऋचा के अनेक वृद्ध और युवा पुत्र और पुत्रियों के "मां मां" कहकर करुण क्रन्दन का कोई ठिकाना ही नहीं था।

किन्तु शिखा के न थमने वाले आंसू तो सत्येन्द्र भी नहीं देख सका। स्वयं सत्येन्द्र भी रोया, विनय की मृत्यु पर नहीं, उसके रात्रि के अन्धकार में कहे हुये पश्चाताप से भरे शब्दों पर, जिन्हें जिसके प्रति कहे गये थे उसने सुना भी नहीं और समझा भी नहीं।

दस दिन की शिखा की कठोर सेवा शुश्रूषा के बाद ऋचा को कुछ होश हुआ किन्तु फिर भी वह पत्थर से कुछ अधिक न थी। सब कुछ भूल भुला कर निर्लिप्त सी हो रही थी। रूपेन्द्र सत्येन्द्र तथा शिखा को वहीं छोड़कर तथा ऋचा को साथ ही ले आने का आदेश देकर चला गया। जगत भी दादी के ही पास था। रामनारायण और सरला वहीं थे। बीस दिन पश्चात ऋचा ठीक होने लगी थी। अब वह रोती भी थी लेकिन बहुत कम। जिसकी छाती के भीतर का सारा जल जमकर शिला की तरह कठोर हो गया हो उसकी आंखों में आंसू कहां से आयेंगे। किसी के न कहने पर भी ऋचा ने स्वयं वेशभूषा बदल डाली थी। सिर के बाल तो पति की अस्वस्थता में ही जटायें बन चुके थे। किन्तु शिखा किसी प्रकार भी उन्हें काटकर उनसे छुटकारा नहीं पाने देती थी।

अधिक दिन इस परदेश की कोठी में भी नहीं रहा जा सकता, ऐसा सोचकर एक दिन सत्येन्द्र ने शिखा से कोठी आदि का प्रबन्ध करके घर चलने का प्रस्ताव किया।

रामनारायण दीनता से बोले—"सत, ऐसी सती बहू को क्यों मुझसे छीनते हो, इसे मुझे दे दो, मैं सिर आंखों पर रखूंगा।"

उसी रात को सरला ने कठोरता से कहा—"देखो जी,

अपना बाल बच्चों का घर है, यह बला ले चलो तो लाला का इन्शोरेन्स और बैंक का रुपया भी हाथ में करो। नहीं तो मुझसे घर बिठाकर इन सतवन्ती को खिलाया न जायेगा। कोई विल कर गया है क्या ?"

"नहीं, लिखा पढ़ी तो नहीं की लेकिन मरते समय कह गया है कि सब कुछ बहू ही ले।"

"और धन लेकर लोक परलोक दोनों ही बिगाड़े। तुम इसे घर ले चलो, धन भी अपने नाम करवा लो, मैं इसे बड़ी अच्छी तरह रखूंगी।"

"हां सो तो तुम करोगी ही, तुम्हें जानता नहीं हूँ क्या ?"

"तो भई जो इच्छा हो करो। मैं ही तो सौ बुराईयों की जड़ हूं और तो तुम्हारे लिये दुनियां में सब ही अच्छे हैं ना ?"

फिर रामनारायण की कुछ कहने की हिम्मत न हुई, वह मन ही मन सरला से बहुत डरते थे।

चार दिन बाद जब धन सम्पत्ति का सब प्रबन्ध कर रामनारायण कागज पत्र देने ऋचा के पास आये तो ऋचा रो भी न सकी। चुपचाप सारे कागज आदि उठाकर जेठ के चरणों में रखकर, प्रणाम करके कब चली गई सो वह जान भी न पाये।

शिखा के बहुत समझाने बुझाने पर भी ऋचा ने धन सम्बन्धी वस्तुयें अपने पास रखने से इनकार कर दिया। शून्य दृष्टि शून्य की ओर फेंकती वह केवल यही कह पाई—"भाभी ! जिनको खोकर भी आज तक जीवित हूं, उनके भाई पर अविश्वास करके उन्हें परलोक में मुंह कैसे दिखा सकूंगी और मुझे धन की आवश्यकता ही क्या है ?"

शिखा उसके दृढ़ प्रतिज्ञ साधू भावपूर्ण मुंह की तरफ देखकर चुप रह गई। भाषा के शब्दों में उसे समझाने की शक्ति ही कहां थी।

सत्येन्द्र ने कुछ भी नहीं कहा। केवल शून्य की ओर देखकर सोचता रहा—"भगवान तुम सत्य हो, अवश्य सत्य हो, जो कहते हैं तुम नहीं हो वह अन्धे हैं, अज्ञानी हैं। यदि तुम नहीं होते तो इस नन्हीं सी बालिका में इतना विश्वास, इतना तेज कहां से आ भरता।"

शिखा से भी उसने यही कहा—"भाभी रुपये की बात उठाकर उस देवी का अपमान न करो। वह हम से, तुम से, सब से बहुत ऊँची है। उसने देना ही सीखा है, लेना कुछ भी नहीं। उसे देने दो, सब कुछ देने दो, यही उसका महत्व है।"

शिखा आदि को लाख मना करने पर भी ऋचा जेठ के साथ श्वसुर की देहरी की पूजा करने चल पड़ी। जाते समय उसने शिखा के चरणों पर सिर रख कर कहा—"भाभी, इस जनहीन लड़की की तुम्हीं तो आज तक माँ बनी रही हो। कृपा दृष्टि बनाये रखना। एक दिन तुम्हारे द्वार पर आऊंगी। अत्यन्त निरीह भिखारिणी होकर, उसे तुम आश्रय देने में आगा-पीछा न करना।" ऋचा के आँसू शिखा के पैर भिगो रहे थे। यही उसने रोते रोते सत्येन्द्र से भी कहा। शिखा ऋचा को हृदय से लगाकर बड़ी देर तक रोती रही।

"बहन, घर पहले तुम्हारा है फिर मेरा। तुम शीघ्र ही अपने उस घर को भी याद करना। फिर मां भी व्याकुल हो रही होंगी।"

सरला ने कहा—"मेरी रानी बहू अपना घर छोड़ कर

और कहीं क्यों जायेगी। चलो बहू बाल-बच्चों में जी भी लग जायेगा।"

सत्येन्द्र ने जाते समय कुछ भी नहीं कहा, केवल एक ठंडी साँस भर ली। ट्रेन में उसने धीरे से शिखा से कहा—"भाभी, ऋचा का क्या होगा? अभी तो सारा जीवन पड़ा है और फिर अपना भी तो कोई नहीं दीखता।"

शिखा ने कहा—"इस दुःख के समय अपने मैं और तुम्हीं तो हैं भईया। किन्तु ऋचा के लिये कुछ भी न सोचो, वह देवी है, उसे अच्छी शिक्षा मिली है। लेकिन देखना सत, यह सरला शीघ्र ही उसे घर से निकाल देगी। तुम जरा उसका ध्यान रखना। रिची मर जावेगी पर मुंह से किसी की निन्दा न करेगी। तुम्हें लिखेगी तक नहीं, केवल सहे जायेगी। तुम्हीं उसका ध्यान रखना। वह तेजस्विनी तो है किन्तु विनय-शीला, सहन-शीला। भगवान विश्वेश्वर उसके सहायक हों।" शिखा की आँखों से बून्दें झरने लगीं। सत्येन्द्र रो नहीं पाता था।

घर पहुँचने पर जगल ने पूछा—"माँ बुआ नहीं आई?"

शिखा ने कहा—"जगल बुआ पूजा करने मन्दिर गई हैं, शीघ्र ही आयेगी।"

सब कुछ सुनकर रूपेन्द्र अत्यन्त अप्रसन्न हुये, विशेषतया सर्वस्व, धन सम्पत्ति ऋचा के जेठ के सम्पर्ण कर देने पर और उसके यहां न आने पर।

पर श्यामासुन्दरी ने कुछ भी नहीं कहा। केवल आधी रात तक बिना किसी के जाने सुने ही देवता की प्रस्तर प्रतिमा के आगे लोट लोट कर रोती रही—"भगवान मैंने उसे इतना

प्रेम क्यों किया। वह तो मेरे पेट की सन्तान नहीं। यदि किया ही था तो तुमने उस पर विपत्ति डालकर उसकी इतनी कठिन परीक्षा क्यों ली स्वामी ? अब ली ही है तो उसे अनुत्तीर्ण न कर देना। शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो यही उसे मेरा आशीर्वाद है। नारायण लक्ष्मी को लेकर बैठे हो इन्हीं से नारी हृदय का हाल पूछ लो ना। भगवान, मैंने उसे केवल देना ही देना आज तक सिखाया था लेना कभी भी नहीं। नारायण, विश्वेश्वर शक्ति दो कि वह दीन अबला लेने की ओर कभी भूलकर भी प्रवृत्ति नहीं करे, नहीं तो उसका सर्वनाश हो जायेगा। सचमुच ही सर्वनाश हो जायेगा। उसे कठोर वैधव्य व्रत-पालन की शक्ति दो नारायण, नहीं तो मैं मां के समान ही हृदय रख कर भी यह मांगती हूँ कि शीघ्र हो उसे मृत्यु दो। काम का निष्ठुर खेल उसे कष्ट न दे सके, यदि दे तो वह सह सके।"

न जाने भगवान ने उस रात श्यामसुन्दरी की प्रार्थना सुनी या नहीं, परन्तु रात के सन्नाटे में सामने हो सोये हुये सत्येन्द्र ने एक एक अक्षर सुन लिया। इस गाँव की अशिक्षिता नारी के लिये सत्येन्द्र की भक्ति उमड़ उमड़ कर उसकी आँखों में भर आई।

विमला

"तब क्या आजीवन यूं ही बितायेगी और तू यदि चाहे भी तो इसे मानेगा ही कौन ?"

अन्तिम वाक्य शूल की तरह शीला की छाती में चुभ गया। धीरे धीरे बोली:—"देख विमला, तू बच्ची नहीं है मेरी बात समझने का यत्न कर। एक दिन बचपन की झलक में ही मैंने बिना समझे कविता को अराध्य देवी बनाना चाहा था और सत्येन्द्र कवि था इसीलिये समय समय पर उसकी प्रशंसा भी आवश्यता से अधिक कर दिया करती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे उससे प्रेम था या उसी बिना पर तुम आज मुझ से यह विवाह मान लेने का कहोगी समझी।"

"तब फिर किस से करेगी सा तो बता दे!"

"यह नहीं कह सकती। शायद करूं ही नहीं।" दिन भर के अनुभव के पश्चात उसका मन कुछ कोमल हो रहा था। यह कहने की इच्छा नहीं हुई कि करूंगी ही नहीं। विमला भी सहज ही छोड़ने वाली न थी तिस पर जली भी बैठी थी। कुछ देर चुप रहकर बोली:—"अभागी हर तरह तो मां को जला रही है यही क्या कम है जो अब विवाह के प्रश्न पर भी जलाने बैठी है ?"

"यह बात नहीं है विमला। मैं माँ के कष्ट का कारण होऊं इससे बढ़कर लज्जा की बात मेरे लिये क्या होगी ?

विवाह भी मैं करूंगी किन्तु विवाह जीवन का सब से महत्व-पूर्ण प्रश्न है इस पर बिना कुछ विचारे मैं कह न सकूंगी किन्तु यह तो निश्चय है कि सत्येन्द्र से विवाह न कर सकूंगी।"

"क्यों ?" विमला ने कठोर स्वर में पूछा।

"विमला मेरे उसके विचार नहीं मिलते। वह पूर्व का उपासक है और मैं पश्चिम की। उसे घूँघट में घुटी हुई लज्जा से सिकुड़ी रमणी पसन्द है, स्वतन्त्र वायु में पली वीरांगना नहीं। जब मन ही न मिलेगा तो विवाह क्या खाक हुआ ? मुझे स्वतन्त्र विचारों वाला उदार हृदय पति चाहिये। तेजी से शीला बोली।

"शीला, नारी स्वतन्त्रता को लेकर करेगी ही क्या ? उसे पूंजी जमा नहीं करनी होती वरन सर्वस्व समर्पण करना होता है। पति की वह वास्तविक महारानी बनती है किन्तु स्वतन्त्रता की माँग लेकर नहीं सर्वस्व समर्पण करने का जन्म-सिद्ध अधिकार लेकर। यही तो उसका महत्व है। तुम्हारे बह-नाई कितने उद्दण्ड और क्रोधी स्वभाव के हैं सो तुम विवाह पर देख ही चुकी थी। तुमने स्वयं कहा था विमला तेरे भाग्य फूट गये भला ऐसे पुरुष के साथ भी कोई गुजर कर सकता है किन्तु आज तू देख अभिमान नहीं करती सचमुच ही वह मेरे इशारों पर चलते हैं बता तो सही मैं अब अलग अपनी सत्ता स्थापित करके क्या करूंगी उन्हीं की सत्ता पर तो मेरी भी स्थिति है। और यह सब हुआ सबकुछ कुछ भी शेष न रखकर कर सब कुछ दे डालने पर। जब सारा ही देना ठहरा तो स्वतन्त्रता अपने लिये बचाकर नारी क्या करेगी ?"

कुछ सोचकर शीला ने कहा:—"ठीक यही तो भारतीय

नारी की दासता है, दुर्बलता है, अबलत्व है।"

"किन्तु मैं तो अत्यन्त सुखी हूँ।"

"यही एक दिन ऋचा ने भी कहा था, किन्तु बहिन! क्या अज्ञान का ही दूसरा नाम सुख है? यदि हां तो मुझे उस अन्धकार पूर्ण सुख की आवश्यकता नहीं, मुझे आधुनिक युग का प्रकाश चाहिये, समानता चाहिये और चाहिये जन्मसिद्ध अधिकार। दासत्व मुझ से न होगा विमला।"

"तब क्या शीला! हमारी मां दादी सब दासी ही थीं? कहाँ मेरी दादी तो घर भर की शासिका थी। मेरे दादा तक उससे काँपते थे। मैं मानती हूँ कि जहां तहां अपवाद भी दीखते हैं जो भारतीय दाम्पत्य जीवन को अनजाने ही कलुषित कर बैठते हैं किन्तु सत्य छिपाने से काम न चलेगा शीला! तुम शायद कहीं और विवाह करने का निश्चय कर चुकी हो? यह ठीक है क्या?"

अनजाने ही शीला कह उठी—"हां"।

"वह कौन है?"

बिना सोचने का समय पाये ही शीला कह उठी—"रवि शर्मा, मेरा सहपाठी।"

"तब यही करो शीला, जैसे हो उसी के साथ विवाह की दृढ़ डोरी में बँध बैठो; तुम्हारी जैसी अस्थिर चित्त लड़की से मुझे अत्यन्त भय है, न मालूम कब क्या कर बैठो? बहिन समय न गँवाओ। नहीं जानती वह कैसा......क्या है? सत्येन्द्र जैसा उदार तो शायद न हो, फिर भी बँध जाओ बहिन तो ही ठीक है।"

"सत्येन्द्र पर बड़ी कृपा है जान पड़ता है, कुछ रिश्वत

खाई है। खैर मेरा बन्धन इतना सुगम नहीं है विमला! और विवाह कर भी मैं तुम्हें दिखा दूँगी कि आदर्श दाम्पत्य, सुखी जीवन परस्पर समझौते और बराबर के लेन-देन पर होता है, न कि केवल एक के देने और दूसरे के लेते जाने पर।" शीला बोली।

विमला का हृदय फिर भी काँप रहा था:—"भला इन भावनाओं को लेकर कौन नारी सुखी हो सकेगी?" वह सोच रही थी।

"माँ को दिन में बहुत ज्वर रहा क्या? विमला मैं क्या करूं बिना काम किये भी तो रहा नहीं जाता। मुझे तो दूसरों की सेवा में ही आनन्द आता है।"

"यह कैसी बात? घर की जननी को छोड़कर पुत्री को अन्य की सेवा में आनन्द आता है। घर का देवता पहचान कर ही भला होगा शीला। वास्तव में यह सेवा भाव नहीं प्रशंसा पाने की इच्छा है जो तुम्हें वहां खींच ले जाती है यह है नाम की, प्रशंसा की, वाहवाही की कामना।"

शीला सोचने लगी।

दोनों धीरे धीरे उठ कर माँ के पास आ गईं। तब तक माँ में उठने की भी शक्ति नहीं रह गई थी। माँ की अवस्था देख कर शीला ने निश्चय किया कि जब तक मां अच्छी नहीं हो जाती वह घर से बाहर नहीं निकलेगी। किन्तु वह प्रतिज्ञा यूँ ही रह गई। दूसरे दिन निश्चित समय पर शीला रवि को लेकर मोहल्ला प्रचार के लिए चल ही दी, किन्तु एक ही कक्षा को पढ़ाने के पश्चात् बोली—

"रवि! मैं जाती हूँ, मां बीमार है, कल फिर आऊँगी।"

मां की अस्वस्थता ने उसका मन वहां नहीं लगने दिया और वह घर चली आई मां की सेवा करने।

उसके बाद अधिक देर तक रवि का मन भी न लगा। शीघ्र ही पढ़ने वाले मजदूर और मजदूरनियों को छुट्टी दे रवि भी शीला के घर पहुँच गया। उसके आध घण्टे बाद रवि सड़क पर था।

विधवा

"मर मुँह जली, चाची चाची कहते मुँह सूखता है। बहू! यह भी नहीं होता कि लड़की को जरा बहला दो।" कह कर सरला ने धम से तीन साल की बच्ची को गीली धरती में ही बिठा दिया। बरतन समेट कर ऋचा ने लड़की को गोद में उठा लिया।

"अब अधिक देर यह लाड़ न करना। उन्हें दुकान भी जाना है, कुछ रूँध-रोध देना, मेरा सिर फुँका जा रहा है। तनिक लेटती हूँ।" ऋचा चुप ही रही।

"मुँह फूट गया है सती रानी, पति को खाकर क्या जुबान भी बन्द हो गई? बनाओगी या मैं ही गरमी में मरूँ?"

"बना दूँगी।" धीरे से ऋचा ने कहा।

उसे इस घर में दो साल होगये। पेट के अन्न के अतिरिक्त उसने कभी कुछ नहीं लिया। कुछ पुस्तकें साथ लाई

थी, उन्हें सन्दूक से निकाला भी नहीं। ऋचा के आते ही पत्नी और पति के दो दिन के वाक-युद्ध के पश्चात यह निश्चित हुआ कि कहारी निकाल दी जाये, मुण्डू की भी आवश्यकता नहीं, ऋचा जो आ गई है। दुकान का कोई नौकर आकर साग भाजी ला दिया करे। ऋचा ने सुना तो सोचा अच्छा है, काम में लगी रहूंगी तो दिन कट जावेंगे। उसे खाली बैठने की आदत जो नहीं थी। किन्तु दूसरे ही महीने उसे ज्ञात हो गया कि जिठानी की साल भर की बच्ची मुन्नी और तीन साल के कक्कू का भार भी उसे ही लेना पड़ेगा। ऋचा को सदा से बच्चों से प्रेम था, जगत को तो पाला ही उसने था, प्रसन्नता से सब भार अपने ऊपर ओढ़ कर जिठानी को पूरी मालकिन बनने का अवसर प्रसन्नतापूर्वक दे दिया। कभी २ इतनी सेवा के प्रतिदान में केवल कुछ कठोर शब्द सुनकर वह घबरा उठती थी किन्तु तुरन्त ही उसे मां के शब्द याद आ जाते, "बेटा प्रतिदान पाने की इच्छा करके देना तो दान नहीं होता, वह तो सौदा होता है, ऐसे सौदे से भगवान प्रसन्न नहीं होते।" उन अनजान भगवान की प्रसन्नता के लिये ऋचा अपना स्वास्थ्य बहाने लगी। उसने बोलना छोड़ दिया था। नन्हें कक्कू से ही बातें करके उसने यह दो साल काटे थे। कभी २ अत्यन्त अधीर होकर सोचती, घर चली जाऊं लेकिन तुरन्त ध्यान आता "यही तो उनका जन्मस्थान है, भगाये बिना यहां से न जा सकूंगी।" कई बार सत्येन्द्र भी आकर लौट गया, लेजा न सका। सरला भी ऋचा की उपस्थिति से तंग आ गई थी। उसे भय था कि किसी दिन अपना धन मांग न बैठे। फिर काम भी तो दो नौकरों का कर रही थी, यह चिन्ता भी थी।

फिर भी मौहल्ले की स्त्रियों को गुना २ कर प्रायः कह दिया करती थी "नाते भर की लाज है बहिन, नहीं तो लाला जी मरे ही क्या छोड़कर थे। चार पैसे तो थे नहीं, हम निभाये जा रहे हैं, नहीं तो बहू बिचारी को उन जमीन्दारों के घर जाके पड़ना होता। चलो दो रोटी में हमारे लिये घाटा थोड़े ही है।"

ऋचा सुनकर जल उठती, पर चुपके २ जलने में ही तो पतंगे का सुनहरा बलिदान है। इतने पर भी जिठानी को प्रसन्न नहीं कर पाती। रामनारायण ऋचा की निरीह, मौन सेवा देखकर कभी २ द्रवित हो उठते, पर पत्नी के डर से कुछ भी कह नहीं सकते थे। बच्चे तो ऋचा को छोड़ कर माँ के पास एक घड़ी भी नहीं टिकते थे। सरला भी दोपहर ताशादि खेलने, पड़ोसिनों से गपशप में बिता देती, किन्तु ऋचा दिन भर में साँस लेने को भी समय न पाती। पड़ोसिनें कभी आकर कहतीं—"बहू तुम तो आधी भी नहीं रह गई। न रूप वह रहा, न रङ्ग, घुलती जा रही हो, कुछ बीमार तो नहीं हो ?"

"नहीं जीजी, तुम्हें तो सदा से दुबली दिखाई देती हूँ, नहीं मेरे ऐसे भाग्य कहां कि बीमार पड़ूं।" ऋचा नम्रता से कहतीं। सरला भी यदि सुन लेती तो चिहुँक उठती।

"तुम भी खूब हो जिठानी जी ! विधवा को यह रूप रङ्ग लेकर क्या करना है। उसके भाग्य तो पहले ही जले पड़े हैं। जैसे-तैसे भला हम तो निभाये भी जा रहे हैं।"

ऋचा की आँखों से दो मोटे आँसू टपक पड़ते, वह हृदय में ही पुकार उठती—"विश्वेश्वर ! बस अब सहा नहीं जाता। मैंने यदि सत्य ही कभी अन्याय न किया हो तो स्वामी अब बुला लो, बस।"

फिर संसार वैसा ही चलता रहता। ऋचा के आँसू भी थम जाते। घर का काम भी चलने लगता। रामनारायण की इच्छा होती कि सरला से कह दे—"गृहस्थ के घर में इतना अन्याय भगवान देख न सकेंगे। मेरे मरने पर तुम्हारी दशा इससे भी भगवान करे हीन हो जाये।" किन्तु कहने का साहस नहीं होता था, मन ही मन डरते रहते थे कि कहीं भगवान माता के अपराध का बदला पुत्री को न दे। फिर भी कुछ कर या कह सकने की हिम्मत उनमें न थी। इसी प्रकार दिन बीत रहे थे।

उस दिन प्रातः आँगन लीप कर हाथ गोबर में सने लेकर ज्यों ही ऋचा खड़ी हुई कि उसने सन्मुख शीला को देखा। द्वार से अन्दर ही चली आ रही थी। वस्त्र अस्त व्यस्त तथा बाल बिखरे हुए थे, आँखें रो-रोकर लाल हो रही थीं। शीला ने ऋचा को पहचाना नहीं। एक तो यूँ ही ढाई साल देखे हो गये थे, दूसरे वह बदल भी बहुत गई थी, वह पहले जैसी कान्ति कहां थी?

"क्यों भई! मालकिन कहां हैं?"

"शीला बहिन! यहां कैसे?" आश्चर्य से ऋचा ने कहा। वह भूल गई कि जीवित जगत ने उसे पहचानना छोड़ दिया है। शीला कुछ देर ध्यान से देखती रही, फिर उससे लिपट गई।

"ऋची बहिन! तुम्हारी यह दशा। मैं विनय की मृत्यु पर लाहौर न थी। आने पर कोई महीना बाद तुम्हारी खोज की तो कुछ ज्ञात ही नहीं हुआ कि तुम कहां हो? तुम्हारी यह क्या दशा है? यह कौन हैं?"

"यही मेरे श्वसुर का घर है बहिन।" शीला की आंखों से सावन भादो की झड़ी लग रही थी। ऋचा भी शान्त थी, किन्तु उसके भी नेत्र गीले थे। आँसू तो बहुत दिन हुये सूख चुके थे।

"तुम यहां कैसे आई?"

"बहिन, मैं अपने पति के साथ यहां आई थी। तुम्हारे बराबर ही के मकान में एक मास से ठहरे हुये हैं, अचानक अभी उनकी तबीयत खराब हो गई। दो ही घण्टे में प्रलाप भी करने लगे। तुम तो जानती हो ही, मैं किसी की बीमारी में कितनी घबरा जाती हूँ। पड़ोसों से सहायता लेने यहां आई थी, ताकि कोई बैठ जाये तो मैं डाकटर बुला लाऊँ। साइकिल है ही, बड़ी जल्दी आऊँगी, अब तो भाग्य से तुम मिल ही गई।" शीला कह ही रही थी कि सरला की आवाज सुनाई दी।

"महारानी, सवेरे-सवेरे किससे गप्पें लड़ाई जा रही हैं, कुछ चूल्हे चक्की की भी चिन्ता है? लड़का हलुवा मांग रहा है।"

ऋचा से यह अपमान और वह भी शीला के सामने सहना असम्भव सा होगया, इच्छा हुई कह दे—"मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ।" किन्तु खून का घूंट सा पीकर शीला को साथ लिये जिठानी के पास गई—"जीजी, यह मेरी पुरानी सखि है, इनके पति हमारे पड़ोस में बीमार पड़े हैं, मैं जरा इनके घर जा रही हूं, यह बिल्कुल अकेली हैं।"

"तो तू कोई डाक्टर है या मन्त्र पढ़कर ठीक कर देगी। गैर मर्द की सेवा करने जवान बिधवा जायेगी, मेल तो ठीक है और रसोई कौन करेगा, मैं?"

शीला अवाक खड़ी थी। यही विधवा है, जिसकी सत्येन्द्र हिन्दू तपस्विनी से उपमा देता था। इसी व्यवहार को लेकर हिन्दू विधवा को अविश्वास के वातावरण में जीवन-यापन करना पड़ता है। उसकी सेवा और त्याग के बदले उसके साथ यह समाज का व्यवहार है, तब फिर मैं ठीक मार्ग पर ही हूं। हिन्दू समाज ठुकराने के ही योग्य है। यह शीला के भीतर ही भीतर प्रतिक्रिया की ध्वनि उठ रही थी।

"देखो जीजी, शीला के पति मेरे लिये गैर नहीं। मेरे पूज्य हैं, बहनोई हैं, उनकी सेवा मेरे लिए अनुचित नहीं है।"

"तू जान, भई।" चिढ़कर सरला ने कहा। विशेष चिन्ता उसे रसोई की थी।

शीला भली प्रकार परिस्थिति समझकर बोली—"रिची, तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूलूगीं बहिन, किन्तु तुम्हारे चलने की आवश्यकता नहीं, कहार को बिठाकर चली जाती हूँ।"

"नहीं, मैं चलती हूँ बहिन।" कठोर विद्रोह से उसका रोम २ कांप उठा। जेठ पास के ही कमरे में बैठे थे। सारी बात-चीत भी सुन रहे थे, केवल बोलने का साहस न था। ऋचा सीधी उनके पास जाकर खड़ी हो गई। आज वह दबी डरी ऋचा नहीं, विद्रोहिनी थी "जाऊं?" उसने चरण छूकर कहा।

"हां, हां जाओ, बहू हो आओ। न होगा आज दुकान से महाराज को भेज दूंगा, काम कर लेगा।"

ऋचा जानती थी जेठ को उसकी बनाई रसोई बहुत पसन्द है। जाते २ जिठानी से कहती गई—"रसोई मैं स्वयं आकर बनाऊंगी।"

मुंह फुलाकर सरला ने कहा,—"उन्हीं से कहो।"

शीला के साथ ऋचा देहरी लांघ गई, आज दो साल में पहली ही बार उसने द्वार के बाहर का भाग देखा था। शीला आश्चर्य से स्तम्भित रह गई। यह नारी जिसका वर्णन उससे पड़ौस की स्त्रियों तक ने किया था अपूर्व सहनशीला है, अपने लिये मूक अत्याचार सहते हुये भी उसने कभी विरोध का एक शब्द तक नहीं निकाला किन्तु दूसरे के कष्ट में ही उसकी सहायता के लिये सहज ही विद्रोह कर सकती है यह शीला के लिये नई बात थी। ऋचा को द्वार के अन्दर करके शीला ने साईकिल के पैडल पर पैर रखते हुये अत्यन्त भक्ति से मन ही मन इस चिर अनजानी, चिर नवीन अद्भुत नारी को, हिन्दू विधवा को प्रणाम किया।

रोगी

ऋचा ने आश्चर्य से देखा घर भर में अव्यवस्था का साम्राज्य है। कमरे में चारपाई के चारों ओर कै पड़ी हुई थी। वमन की दुर्गन्ध से कमरे की वायु भरी हुई थी। रोगी शायद अचेत था। रोगी पर दृष्टि पड़ते ही ऋचा अपने आप कह उठी—"रवि भईया।"

अरे यह तो सत्येन्द्र भईया के मित्र रवि भईया हैं। साथ ही साथ उसे और भी एक अत्यन्त लज्जा की बात याद आ गई। चुपचाप उस विचार को उसने सहज ही हृदय में

घोंट घांट कर मार डाला।

शीला के लौटने से पूर्व ही उसने वमन साफ करके कमरे को धो डाला। इधर उधर बिखरी चीजें समेट कर ठीक से रख डालीं फिर तुरन्त ही घर से अमृतधारा लाकर दो तीन बूंदे रोगी को बड़ी कठिनाई से मुंह खोलकर पिला दी। इसी बीच शीला की रसोई में जाकर खिचड़ी चढ़ा आई। शीला को अपने घर निमन्त्रित करने का तो उसे अधिकार ही न था। आज सचमुच उसे अपनी दीनता पर लज्जा आई। इसी बीच रोगी ने स्वस्थ होकर आंखें खोली। शीला की जगह एक मैली कुचैली साड़ी पहने अपरिचित रमणी दिखाई दी। रवि विकृत मस्तिष्क से उसे पहचान तो नहीं सका किन्तु यह समझकर कि कोई नौकरानी होगी फिर आंखे बन्द करली। काम काज कुछ निबट जाने पर ऋचा का हृदय जोर से रो उठा। आज उसकी छाती में अचानक ही किसी ने घूंसा मारा। आज से दो वर्ष पूर्व भी एक दिन इसी प्रकार उसने किसी की सेवा की थी किन्तु वह सेवा उसका सबसे बड़ा दावा था, महान अधिकार था और यह सेवा केवल एक अहसान है, सहायता है। उस सेवा के लिये संसार भर में कोई उसके लिये ऋणी भी नहीं हुआ था, कृतज्ञ भी नहीं, किसी ने धन्यवाद भी नहीं दिया था किन्तु इस सेवा के लिये शीला उसकी चिर ऋणी रहेगी। ऋचा का हृदय रो उठा। उसके स्वामी चिरकाल तक इसी प्रकार उसकी सेवा ग्रहण करते रहते, तब भी वह इस प्रकार अधिकार वंचिता तो न होती।

वह दृढ़ बालिका जिसे जिठानी का कठोर व्यवहार किसी दिन भी रुला नहीं सका था, आज दो वर्ष के जमें

आंसुओं को रोक न सकी। उसका हृदय फट कर दो टूक हुआ जा रहा था। जल्दी २ कोठरी में जाकर पड़ रही। न जाने कितनी देर पति को स्मरण, करके रोती रही। आंसुओं का समुद्र बहता ही चला जा रहा था, रुकता ही न था। फिर उसे रोने का भी अवकाश कहां था? जिठानी की कर्कश ध्वनि ने उसे जगा दिया। उठकर जैसे तैसे जेठ के लिये भोजन तैयार किया किन्तु उससे स्वयं मुख में ग्रास ही नहीं दिया गया। सन्ध्या समय जब वह शीला के पास गई तो कृतज्ञता से शीला की आंखों में जल भर आया था। शीला ने दीनता से कहा—"बहिन, आज तुम न आती तो न जाने क्या होता। हम तुम्हारा उपकार जीवन भर नहीं भूल सकेगें। किन्तु जब तक यह अच्छे न हो लें, तब तक मेरी प्रार्थना है कि तुम मेरी सहायता करती रहो। मेरे लिये अपनी जिठानी का क्रोध सह लेना बहिन?"

"आऊंगी बहिन।" ऋचा को वह अपने ही शब्द याद आ गये "पति की सेवा के लिये नारी को किसी अन्य की सहायता नहीं लेनी पड़ती।"

रात को ऋचा सो न सकी। सारी रात विनय के चित्र को छाती से लगाये ही पड़ी रही "हे विश्वनाथ मेरी इतनी कठिन परीक्षा क्यों ले रहे हो। मैंने कौन सा पाप किया है? इस प्रकार इस अभागिनी के जीवन में फिर क्यों इस युवक को ला खड़ा किया। मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है भगवान? मेरे देवता पति का छाया छत्र छीन कर अब क्या यूं परीक्षा लोगे? परीक्षा कठिन है, नाथ तुम्हीं इसमें से पार होने की शक्ति भी दे देना। मुझे क्या पता था भईया के रवि शर्मा ही शीला के पति हैं, अन्यथा वहां जाती ही क्यों? भगवान नारी के

दुर्बल हृदय के साथ खिलवाड़ न करो। स्वामी मुझे शक्ति दो, मेरा लोक और परलोक का देवता आज भी स्वर्ग में मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। उसके चरणों पर मस्तक रख सकूं, इस योग्य मेरा ललाट रखना विश्वेश्वर।" रात्रि ने दिन का समस्त कलुष आंसुओं द्वारा धो डाला। बहुत ही शान्त और स्थिर होकर प्रातः से ऋचा ने अपने कठोर कर्तव्यों का पालन आरम्भ किया। उसके व्यवहार में अब न हिचकिचाहट थी और न लज्जा। साधारण नारी से विश्व जननी बना डाला था। विश्वेश्वर ने उसे कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये रमणी का हृदय छीनकर मां का, जगत्माता का हृदय दे डाला था। अब ऋचा के लिये रवि सन्तान से अधिक कुछ भी न था। फिर भी ऋचा ने उससे दूर ही दूर रहना अच्छा समझा।

उधर जिठानी के क्रोध की मात्रा भी बढ़ती जा रही थी किन्तु ऋचा निश्चिन्त थी, उसे न किसी के क्रोध की चिन्ता थी और न आदर की ही। केवल दोनों समय आँखों में आँसू भर कर भगवान से प्रार्थना अवश्य करती थी "हे विश्वनाथ, कष्ट भी तुम्हीं ने दिया, परीक्षा भी तुम्हीं ले रहे हो, अब ऐसा उपाय भी तुम्हीं कर दो कि इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँ अथवा शीघ्र ही मृत्यु दो, प्रभु।" उसके नेत्र से अविरल बहने वाली अश्रुधारा उसके हृदय की ज्वाला को बहुत कुछ शान्त कर देती थी।

कठिन परीक्षा

"शीला, शीला, वह कहाँ है ?" क्षीण स्वर में रवि ने पूछा।

"कौन ?"

"वही स्त्री, जो मेरी सेवा कर रही है। शीला, उसे चलते समय कुछ रुपये और कपड़े आदि दे जाना, बिचारी बहुत दरिद्र मालूम पड़ती है।" रवि के मुख पर करुणा का भाव आ गया था।

"उसे जानते भी हो रवि ? उससे अधिक धनी और कौन होगा ? उसका हृदय अत्यन्त उदार है, विशाल है।" रवि के बिखरे हुये बालों से खेलते हुये शीला ने कहा।

रवि को शैय्या सेवन करते बीस दिन हो गये थे। अवस्था अब कुछ अच्छी थी, सन्ध्या समय ज्वर हो जाता था किन्तु दिन में अवस्था अच्छी रहती थी। धीरे धीरे स्वास्थ्य के निकट पहुँच रहा था। ऋचा की शान्त, शिष्ठ, मूक सेवा ने मानों रवि को पुनर्जन्म दे दिया था। कर्मष्ठ शीला के अनभ्यस्त हाथों को भी ऋचा के सहवास ने बहुत कुछ गृहकार्यों में दक्ष कर दिया था। ऋचा कभी रवि के सम्मुख नहीं आती थी फिर भी उस छाया से ही मानों रवि को कुछ आकर्षण हो गया था। उसे अनजाने ही लगता था कि वह इस अपरिचित मूक दरिद्र रमणी के ही विषय में सोचता रहता है। रवि अपने

आप को अभी तक यही समझ कर धोखा दे रहा है कि यह केवल मात्र सहानुभूति है, दया है, किन्तु कौन कह सका है कि इस दया के पीछे क्या क्या छिपा हुआ है।

"अच्छा" अत्यन्त अधिक उत्सुकता होते हुये भी रवि चुप हो गया।

कुछ ठहर कर शीला ने स्वयं कहा—"रवि, विनयकुमार, तुम्हें याद है ना, वही जो आई० सी० एस० था।"

"याद है, क्यों शीला उसकी याद कैसे आई ?"

"यह स्त्री उसी विनयकुमार की पत्नी थी।"

"क्या ? यह रिचि है ? नहीं, कभी नहीं।" उसका समस्त शरीर कांप रहा था, वह चौंक पड़ा था।

"यह रिची ही है ? क्या तुम उसे जानते हो ? बिचारी की काया ही पलट गई।" गहरी सहानुभूति के स्वर में शीला बोली।

"हूँ।" कहकर रवि कुछ देर के लिये चुप ही रहा। "मैंने एक आध बार देखा था।" पहले "हूँ" में जोड़कर रवि चुप ही रहा।

शीला के फिर प्रयत्न करने पर भी नहीं बोला। शीला समझी रवि बोलने से थक गया है और उठकर चली गई। उत्तेजना से रवि का बुरा हाल हो रहा था, उसके कान में मानो कोई तीव्र सीसा पिघला कर डाल रहा था, निरन्तर कठोर शब्द उसे मानो जतला रहे थे कि उसने ही इस रमणी का सर्वनाश किया है। कितनी भयंकर भूल थी, कहां शीला मानवी और कहां यह मूक देवी। इसने मुझसे कभी कुछ पाया नहीं, यदि पाया भी तो जीवन के प्रभात काल में ही निराशा। अत्यन्त कठोर

व्यवहार और नारी गर्व को कुचलने वाली कठोरता, फिर भी प्रतिदान के इच्छा के बिना ही यह मेरी निष्काम भाव से वह सेवा कर रही है जो शीला मेरा सर्वस्व पाकर भी न कर सकी। यह तो उसकी घृणा का, प्रतिशोध का समय था किन्तु वह मुझे भरपूर दया और ममता ही दे रही है। जो रूप अस्पष्ट रूप से बीमारी के २० दिनों से रवि के मस्तिष्क में घूम रहा था, आज स्पष्ट हो गया। तो यह उस नन्हीं सी तेजस्विनी रिची की दुर्भाग्य परिपूर्ण वैधव्य मूर्ति है। ओह! मैंने पाप किया, मूर्खता की और की नासमझी।

सोचते सोचते रवि के मस्तिष्क में अनेकों पुराने स्मृति-चित्र जाग उठे। वह कभी भी इतने स्पष्ट न थे जितने आज हो उठे हैं। इन्हीं भावनाओं में उलझा रवि का सिर दुःख उठा, सर्वांग कांपने लगा। शीला दवाई लेने गई थी, नियमानुसार ऋचा ने आकर कमरे की सफाई शुरू कर दी। ऋचा को काम करते देखकर शीला लज्जा से भर जाती थी किन्तु घर की सफाई और कपड़े धोना ऋचा उससे किसी प्रकार भी नहीं करने देती थी। छोटा सा नौकर पहले ही दिन रवि को वमन करते देखकर भाग गया था, दूसरा कोई यत्न करने पर भी मिलता ही न था। अतः ऋचा को ही प्रतिदिन यह सब काम करने पड़ते थे। रवि को उसे यह सब कुछ करते देखकर दया तो हो आती थी किन्तु आज पहली ही बार वह लज्जा से भर गया। उसने आज अनिच्छा से भी अपनी आन्तरिक आज्ञा के विरुद्ध भी पर-स्त्री की ओर दृष्टि की। ऋचा की ओर देखते ही रवि की आँखों से मोती झरने लगे। यही क्या सोने की प्रतिमा ऋची है? आज इस दुर्बल, गूदड़ों में छिपी नारी के भीतर और बाहर दोनों ही ओर

उसे आज अपूर्व सौन्दर्य नाचता दृष्टि गोचर हुआ। उसे अगोचर, तेज पूर्ण सौन्दर्य पूरी तरह दीखने लगा था। आंसू थमते ही न थे, तब तक ऋचा कमरा साफ करके रवि को सपञ्ज करने के पश्चात् उतरे हुये वस्त्र लेकर गोसलखाने की ओर चली, यही उसका प्रतिदिन का नियम था, अत्यन्त कष्ट से रवि ने आंसू रोककर पुकारा—"ऋचि।" आश्चर्य से ऋचा चौंक उठी। ये पुकार तो आज पहिली ही, ये क्या भगवान नवीन परीक्षा में डाल रहे हैं? वापिस लौटकर शान्ति पूर्वक उसने कहा—"कहिये"

"तुमने मुझे धोखे में ही क्यों रखा? हम तुम्हारे साथ नौकरों का सा व्यवहार करते रहे। हमें क्षमा करो ऋची?"

"जिसका संसार में कोई मूल्य ही नहीं रहा है, उसे कुछ ही दिनों आदर देकर क्या करोगे रवि भईया?" आंखों के आंसू न रोक सकने के कारण ऋचा चली गई। रवि पुकारता ही रहा "रिची, सुनो तो सही।" ज्यों त्यों कपड़े किसी तरह धोकर, सूखने डालकर, ऋचा चुपचाप अपने घर चली गई। कपड़ों को उसने जल से धोया था अथवा आंसुओं से, कौन जानता है?

रवि को बार २ इच्छा होने लगी कि ऋचा से बातें करूं। कितनी दुःख भरी वाणी थी ऋचा की, कितनी करुणापूर्ण, कितनी सुन्दर दृष्टि थी। उस नारी के कहे एक ही छोटे से वाक्य को लेकर रवि सारे दिन सोचता रहा। कल्पना में न जाने उस ने कितनी बार वही एक वाक्य रवि से कह डाला। ऋचा अब एक के बजाय दोनों ही घरों का काम करती थी। थक कर चूर हो जाती थी फिर भी विश्राम की चिन्ता नहीं होती

थी। प्रतिदिन इच्छा करती थी कि शीला के घर न जाये, उसी ने क्या शीला का ठेका लिया हुआ है किन्तु फिर शीला का दीनतापूर्ण मुख, याचनापूर्ण प्रथम दिन की दृष्टि उसे विचलित कर देती थी। आज तक उसे सन्तोष था कि रवि उसे पहचानता नहीं, आज वह सन्तोष भी छिन गया।

जिठानी ने घर आते ही कहना आरम्भ किया—"देखो बहू, सखि के बहाने बहुत दिन उस घर न जाने पाओगी। युवती विधवा पराये पुरुष की सेवा महीनों करती रहे, यह वह चाहें तो भले ही देखते रहें, मुझसे तो न देखा जायेगा। आखिर पूरा पड़ौस भी है। मुझे चार जनियों में शादी ब्याह करना व मुंह भी दिखाना है। तुम्हारी तरह कुछ निगोड़ी नाठी भी नहीं, बाल बच्चों की विवाह शादी भी करनी है। इस गृहस्थ के घर में इस आचरण से निबाह न होगा। यह सोच रखो, बान न छुटे तो उसी जमीदार के घर जा बैठो। मैं तो भाई इसी लिये बुरी हूं कि अनाचार नहीं देख सकती।... ....." जिठानी बड़बड़ाती ही रही। उधर ऋचा ने रसोई में जाकर काम आरम्भ कर दिया। आज वह अपने आप को काम में बिलकुल ही डुबो देना चाहती थी। वह चाहती थी कि वह संसार को बिलकुल भूल जाये। आज एकादशी थी, जल भी पिये बिना सारे दिन वह काम में जुटी रही। रात्रि को उस घर के बर्तन मलकर जब घर-लौटी तो ग्यारह बज चुके थे। देह टूटी जा रही थी। आज वह शीला के लाख बुलाने पर भी रोगी के कमरे में नहीं गई। बिस्तर पर पड़ते ही नींद नहीं आई। आधी रात तक विनय के चित्र के साथ बातें करती रही, रोती रही। उसके जीवन में एक यही क्षण कुछ सरस होते थे, उत्तर न पाने पर

भी वह सब कुछ कह तो डालती थी। उसे लगता था कि उसका स्वामी स्वर्ग से ही उसके शब्द सुनकर आदेश भेज रहा है। वह उस आदेश को अत्यन्त प्रेम और श्रद्धा से ग्रहण करती थी।

दुःखिनी न जाने कब सो गई।

प्रातः सात बजे तक बहू को कमरे से न निकलते देख सरला का पारा चढ़ गया। आंगन में ही खड़े होकर चिल्लाने लगी। यह भले लोगों का घर है बहू, ग्यारह २ बजे तक तो पड़ौसियों के यहां रहे और सवेरे आठ बजे तक बिस्तर पर। ऐसे न चलेगा बहू कहे रखती हूं.........।" देर तक चिल्लाने का भी जब कोई असर नहीं हुआ, उधर नाश्ते के हलवे को देर हो रही थी। हलवा तो मारे अभिमान के सरला स्वयं भी बना सकती थी किन्तु अग्नि कौन जलाता। सोच विचार के सरला ऋचा की कोठरी के सम्मुख आई देखा तो ऋचा औंधी पड़ी थी। आंखें बन्द थी, शायद अचेतनावस्था में चारपाई से उठने का यत्न करते हुये धरती पर ही गिर पड़ी थी। छाती पर कोई चित्र फ्रेम किया हुआ उलटा पड़ा था। क्रोध से सरला जल उठी। "यह अभागिन मर भी तो नहीं जाती। ढाई सेर श्वसुर के घर का अन्न खाती है और न जाने किसकी तस्वीर छाती से लगाये आठ २ बजे तक पड़ी रहती है।" इतना कुछ हो जाने के बाद भी जब ऋचा के हिलने का भी चिन्ह न मिला तो सरला घबरा गई। वह जुबान की तेज जरूर थी। पैसे को भी दांत से पकड़ने में अत्यन्त कुशल थी पर दिल की बुरी न थी। पास जाकर हाथ पकड़ा तो तवे की तरह जल रहा था। दौड़ी जाकर पति को बुला लाई। दोनों ने मिलकर ऋचा को बिस्तर पर डाला। वह बिलकुल ही अचेतन थी। सरला घबराहट में

चित्र की बात भूल ही गई थी। ऋचा को उठाते समय पति और पत्नी दोनों ने ही देखा ऋचा की छाती से एक फ्रेम किया हुआ चित्र नीचे गिरा। आश्चर्य था वह चित्र विनय का था। विनय प्रसन्नचित मुस्करा रहा था। ऋचा को इससे पूर्व न किसी ने कभी रोते देखा था और न वह कभी किसी के सामने विनय की याद ही करती थी। सरला का कथन तो था कि उसे विनय से कभी प्रेम ही न था, केवल लोक लाज निभा रही है। जैसे तैसे उसका इलाज होता रहा। दस पन्द्रह दिन बीतने पर भी जब बुखार किसी तरह भी न छूटा, तो रामनारायण ने सत्येन्द्र को लिखा "बहू बहुत बीमार है आकर ले जाओ।" शीला प्रायः प्रतिदिन ऋचा को देखने आती थी। उधर रवि की भी अवस्था फिर बिगड़ने लगी थी। सारे दिन छत की ओर देखता गुमसुम पड़ा रहता था। शीला कभी ऋचा से रवि की बात कहती तो वह चुपचाप अत्यन्त कष्ट से सुन भर लेती थी, कहती कुछ भी न थी, कहने की इच्छा ही न होती थी। उसकी इच्छा शीघ्र ही इस कठिन परीक्षा से मुक्ति लेने की होती थी किन्तु उपाय नहीं ढूंढ पाती थी। जिस दिन सन्ध्या समय अकस्मात सत्येन्द्र उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ तो ऋचा को सचमुच उपाय दीख गया। उसने एकदम चारपाई छोड़कर सत्येन्द्र के पैर पकड़ कर रोकर कहा—"भईया मुझे घर ले चलो।"

"तुझे यहाँ क्या दुःख है ऋची ?" अब उसका बिस्तर बदल चुका था।

"कुछ भी नहीं भईया, पर मुझे ले चलो।"

"पर ऐसी हालत में तू जायेगी कैसे ?"

बहिन को सत्येन्द्र बिस्तर पर लिटा चुका था, धीरे धीरे

उसके सिर पर हाथ फेर रहा था।

"खूब चल सकूँगी भईया। मुझे हुआ ही क्या है?" उस घर की वायु मानो उसका दम घोंट रही थी।

दूसरे ही दिन शीला ने रवि को बताया—"रिची को बुखार में ही सत्येन्द्र लिये जा रहा है।"

"कौन? सत्येन्द्र कब आया? उसे तनिक बुलाओ तो।"

"हां, मैं तो भूल ही गई थी कि सत्येन्द्र तुम्हारा मित्र है।"

रात्रि के अन्धकार में दोनों मित्र मिले। दोनों के नेत्रों में अश्रु थे। रवि तकिये के सहारे उठ कर बैठा था। शीला दोनों के लिए जलपान का प्रबन्ध करने चली गई। इच्छा होते हुए भी रवि ऋचा का हाल सत्येन्द्र से न पूछ सका, कुछ कह भी न सका।

"रवि, तुम्हारे विवाह पर न आ सका, क्षमा करना।"

"हां, मैंने सुना था मलेरिया के दिन होने से तुम मलेरिया ग्रसित गांवों का दौरा करने गये हुए थे।"

"तुम तो नया सेन्टर यहीं खोल रहे हो ना?"

"पहिले तो विचार नहीं था, फिर शीला का विचार हुआ कि यहीं सैटल हो जाएँ, अब सोचता हूँ कि लौट जाएँ।"

रवि यह कहने का साहस कैसे कर सकता था कि जब तुम ऋचा को ही लेजा रहे हो जिसके लिए मैंने यहां बसने का निश्चय किया था तो अब यहां बसने से क्या लाभ? किन्तु यह सब कुछ उसके बिना जाने और अनिच्छा से ही हो रहा था। विशेषतया ऋचा की बीमारी के दिन से तो रात दिन

ऋचा की प्रतिमा ही रवि की आंखों में घूमती थी। उसकी इच्छा होती थी कि शीला से ऋचा की ही बातें करूँ। पहले की तरह जब भी कभी शीला कोई प्रेम की रसिकतापूर्ण बात कहती तो प्रसन्न होने के बजाय रवि झल्ला उठता, किन्तु शीला ने यह सब कुछ लक्ष्य नहीं किया था। उसका हृदय स्फटिक मणि की भांति स्वच्छ था। रवि उस अन्तर को छुपाता भी कङ्गाल की निधि की तरह था। पहले उसे शीला से भय नहीं होता था किन्तु अब वह बात बात पर मन ही मन शीला से भय खाने लगा है।

आधी रात के पश्चात् जब सत्येन्द्र उठने लगा तो उसने कहा—"भाई, तुम्हें इतने दिनों पर मिला, फिर भी कुछ सेवा न कर सका।"

"अब कर दो ना ?"

"कहां, कल तो मैं जा रहा हूँ।"

"भला इतनी जल्दी क्या है सत्येन्द्र ! दो दिन मेरे पास भी रह लो। फिर न जाने कब मिलें भाई।"

"मैं तो ठहर जाता किन्तु रिची अब एक दिन भी ठहरने को राजी नहीं। क्या करूं ? न जाने क्या हो गया है, पहले अनेकों बार बुलाने पर भी यहां से जाने को मानती ही न थी। अब इस दुर्बल अवस्था में भी किसी तरह ठहरना नहीं चाहती।"

"उसे यहां कष्ट भी तो बड़ा है।" शीला ने धीरे से कहा।

किन्तु सत्येन्द्र और रवि दोनों ही जानते थे कि वह कष्ट से घबराने वाली धातु से बनी हुई नहीं है। किन्तु उसके इस

प्रकार स्वरक्षा के लिए कवच ढूँढने का कारण एक जानता था, दूसरा नहीं। जो जानता था उसे यह जान कर प्रसन्नता ही हुई कि उसे भी भाग कर कवच ढूँढने की आवश्यकता पड़ी है। तब तो शायद सफलता मिले। किन्तु दूसरे ही क्षण उसका मन गम्भीर घृणा से भर उठा, "ओह! मैं कितना नीच हूँ। रिची साहसी, तपस्विनी विधवा है। विश्वेश्वर! कभी भूलकर भी उसके कुसुम कोमल मन में इस पापी का विचार नहीं आने देंगे।" जीवन में पहली ही बार रवि की इच्छा हुई कि वह ईश्वर पर श्रद्धा कर सके।

मन ही मन श्रद्धा से रवि शर्मा ने उस दीन हीन हिन्दू विधवा को प्रणाम किया। शीला अनेक तेल आदि मल कर रवि को सुलाने का यत्न करती रही किन्तु रवि शर्मा को नींद नहीं आई, नहीं आई।

सत्येन्द्र के कोठरी में जाने से पूर्व ही ऋचा पीठ फेरे सो रही थी। विनय का चित्र आज उसके सिरहाने रखा था, वही तो उसका रक्षा कवच था। सत्येन्द्र ने इस नन्ही सी बीस-इक्कीस वर्ष की सुन्दरी विधवा की ओर देखा। अचानक ही उसे विनय की मृत्यु के समय कही हुई बातें याद आ गईं। सचमुच ही इस बालिका का विवाह कर देना होगा। किन्तु दूसरे ही क्षण सत्येन्द्र उस दृढ़ प्रतिज्ञ सोते हुए मुख की ओर देखकर सहम गया। वह सोचने लगा क्या यह विनय की काल्पनिक मूर्ति का ध्यान छोड़ सकेगी? प्रश्न वायुमण्डल में टकरा कर लौट आया। सत्येन्द्र बाहर आकर अपनी चारपाई पर पड़ रहा, पर नींद कहां थी?

परिवर्तन

ऋचा के जाने के बाद ही रवि के हृदय पर एक भार सा प्रतीत होने लगा। अभाव में आकर्षण अधिक कटु हो उठता है, इसका अनुभव रवि ने आज ही किया। जितना ही वह मन-प्राण से ऋचा की प्रतिमा निकाल फेंकने का यत्न करता, उतनी ही वह मूर्ति उसके अन्दर धँसती ही चली जाती। रवि को ऋचा के विचार, उसके सम्बन्ध में वार्तालाप के अतिरिक्त अन्य कोई बात अच्छी ही नहीं लगती। यत्न करने पर भी वह उस दीन-हीन अमङ्गलमयी विधवा प्रतिमा को भूल न पाता। एक दिन जान बूझ कर जिस स्वर्ण मूर्ति को पैरों से बलपूर्वक ठेल दिया था, आज उसी को पाने की यह अनुचित इच्छा क्यों? सम्भवतः इस त्यागमयी रमणी ने उस तेजस्विनी, शान्त सरल बालमूर्ति की भी याद रवि के अशान्त हृदय में जाग्रत कर दी थी। रवि उस अल्हड़ हँसी से भरी हुई बालछवि से इतना भयभीत नहीं होता था जितना कि इस सर्वस्व त्यागिनी, मैली-कुचैली नारी से। यही दोनों मूर्तियां दो ओर से भारी कपाट लगाकर उसके हृदय को मसले डाल रही थीं। वह सोचता ऋचा मेरी कौन है? मैं उसके लिए क्यों सोचूँ? शीला मेरी न्याय की दृष्टि से पत्नी है। मेरे और उसके अधिकार समान हैं। यदि वह अपने हृदय में अन्य किसी की चिन्ता नहीं करती तो मुझे भी ऐसा करने का अधिकार नहीं

है। अनधिकार चेष्टा करना अपराध है। भोली शीला क्या जाने कि उसके स्वामी के हृदय में कीट घुस चुका है।

दोनों लौट आये। रवि ने अपने आपको काम में ही फँसा देना चाहा, किन्तु काम का आवश्यकता से अधिक भार भी ऋचा की छाप उसके हृदय से न मिटा सका। शीला के साथ बैठ कर चाय पीते हुए उसे यह कल्पना बड़ी ही मीठी लगती थी कि शीला की जगह ऋचा बैठी है, उसकी चोटी में गुलाब का एक बड़ा खिला हुआ गुलाबी फूल जड़ा हुआ है। जान कर भी रवि इस असम्भव कल्पना को हृदय में पालता ही जा रहा था। धीरे धीरे उसे यह सोचने की आदत भी पड़ती जा रही थी।

धीरे धीरे शीला की दृष्टि भी इस परिवर्तन की ओर पड़ी। आरम्भ में तो उसे यह केवल अस्वस्थता सी ही प्रतीत होती थी, किन्तु जब अनेक बहाने बनाकर रवि अकेला ही मौहल्लों में जाने लगा तो शीला को कुछ अच्छा न लगा। सन्देह भी होने लगा, झड़प भी हो जाती थी।

परसों शीला ने रवि से बड़े प्रेम से कहा—"कल सन्ध्या मेरे लिए खाली रखना। मेरी एक सखी वही मिसिज राय हैं ना, उसने दावत की है।"

"मैं कल तुम्हारे साथ न जा सकूँगा। तुम चली जाना।"

"क्यों कल तो तुम्हें कोई काम है नहीं, सुबह ही तुम कह रहे थे।"

"वर्किंग कमेटी की मीटिंग है।"

"कौन सी मीटिंग है सुनूं तो सही, अभी तो मीटिंग

हुए एक सप्ताह भी नहीं हुआ है।" शीला ने आश्चर्य से पूछा।

"अरे भई, कह तो दिया एक आवश्यक मीटिंग है। अब क्या हर बात का तुम्हें उत्तर देना ही होगा।" चिढ़ कर रवि ने कहा।

"अच्छा, यह बात भी आज तुम्हें सिखानी होगी। यही तुम्हारा दायित्व है, बराबरी का हक है।" शीला का व्यंग रवि को तीखा लगा।

"मैं तुम से क्या कुछ पूछता हूं, तुम जो इच्छा हो करो। मैं तो तुम्हें कभी कुछ करने से रोकता नहीं, तुम्हीं क्यों पीछे पड़ी रहती हो।" अन्तिम वाक्य शीला का हृदय बेंधता गया।

"अच्छा, अब कुछ भी न कहूँगी।" मान करके शीला अपने कमरे में जाकर फूट फूटकर रोने लगी। उसने शिक्षिता नारी का मान तो सीखा था किन्तु मानवीय दुर्बलताओं पर विजय तो प्राप्त नहीं कर सकी थी। झिड़कना, लड़ना आदि वह सह सकती थी, किन्तु इतनी उपेक्षा, इतनी उदासीनता, इतनी लापरवाही उसे सही नहीं गई।

"मैं क्या इनकी इतनी अनादर की वस्तु हूँ? क्या यही स्वतन्त्रता, समान अधिकार आदि हैं, जिनकी दुहाई यह आज तक देते रहे हैं। माना यह कभी कुछ पूछते नहीं, लेकिन मैंने क्या कभी इनकी कोई बात टाली है? इन्हीं के पीछे मैंने सत्येन्द्र को उसके गुण, धन और सम्पत्ति के साथ ठुकरा दिया। पिता के कष्ट और अपमान की चिन्ता न की, केवल स्वतन्त्रता के लिए। तब क्या यही स्वतन्त्रता है? आज इनके साथ न जाने पर मैं फूट फूट कर रो रही हूँ, यही मेरी आजादी है।

शीला को अपनी दीनता पर अत्यन्त लज्जा आई—"नहीं, नहीं, मैं घरेलू, अशिक्षित, अन्ध-विश्वासी नारी तो हूँ ही नहीं जो इनकी उदासीनता का उत्तर चरण-चुम्बन करके दूँगी। मैं भी स्वतन्त्र हूं। इनकी जो इच्छा हो करें।"

तुरन्त ही शीला साइकिल उठा कर धीरेन्द्र के घर की ओर चल दी। रवि इसके पूर्व ही बाहर जा चुका था। सन्ध्या को रवि ने क्षमा माँग ली, सुलह भी हो गई, किन्तु उसका नवीन व्यवहार शीला के हृदय में कांटे की तरह गढ़ने लगा।

आज फिर जब शीला ने रवि के साथ शहर के मौहल्लों में चलने की प्रार्थना की तो रवि अपने ही अपराध के डर से घबराया हुआ सा बोला—"शीला! तुम मेरे पीछे छाया की तरह लगी रहना चाहती हो, यह तुम्हारा कैसा अविश्वास है? क्या तुम मेरी पहरेदार हो?"

शीला आश्चर्य से ठक सी खड़ी रह गई। यह कैसी बात, आज तक तो सदा ही हम साथ साथ काम करने जाते थे, इसी एक आकर्षण से तो उसने विवाह किया था कि हम काम अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। पिछले दो मास से मैं इनका पहरा देने लगी, यह कैसी बात है? कुछ देर तक उसके मुख से शब्द ही नहीं निकले, किन्तु उसने दबना तो सीखा ही न था। तड़क कर बोली—

"तुम्हें शर्म तो नहीं आती रवि! कुछ चोरी ही करते होगे, तभी पहरे का सन्देह होता है। जो स्वयं जैसा होता है वैसा ही सब को समझता है।" बात कुछ उखड़ी-पुखड़ी सी थी, फिर भी रवि को ज्ञात हुआ मानों शीला सब कुछ जान बूझ कर उसे धिक्कार रही है। खुल जाने पर उसे मानो और भी साहस आ गया।

"अच्छा चोरी ही करता हूँ। तुम्हें क्या अधिकार है कि मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरी स्कीम में गड़बड़ी करो। मैं अकेला ही जाऊँगा। रोज रोज मुझसे, तुम्हें साथ लेकर नहीं जाया जाता।"

"तो तुम्हारे पीछे जाता ही कौन है? मुझे ऐसी आवश्यकता नहीं। और अधिकार की बात करते आज तुम्हें लज्जा से डूब मरना चाहिये। मैं दकियानूसी हिन्दू घर की बहू नहीं, शीला हूँ, कुछ ऋचा की तरह सह लेने वाली सीधी सादी मूर्ख नारी नहीं। और तुम्हें भी सिखा दूँगी नारी का आदर कैसे करना होता है?" उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही झपट कर अपने कमरे में जाकर शीला ने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिये।

'ऋचा' शब्द ने मानो एक साथ ही रवि के हृदय पर सैकड़ों कोड़ों की वर्षा कर दी। थोड़ी देर बाद ही रवि लारेंस बाग की सड़क पर घूम रहा था। शीला इतना दर्प दिखाकर भी समझ न पाई कि क्या करना होगा। उसका अभिमानी मन पति के इस कठोर व्यवहार का सर्वांग से विरोध कर रहा था। वह कठोरता से चंचल चित्त को दबाती हुई प्रतिज्ञा कर रही थी कि वह यह कठोरता कदापि नहीं सहेगी, कभी नहीं सहेगी, वह इसका पूर्ण विरोध करेगी। रवि को सहज ही क्षमा न कर देगी। किन्तु मन की अस्थिरता में क्या करेगी, यह निश्चय ही नहीं कर पा रही थी। उसका अपराध ही क्या था, यही तो कि उसने कहा तनिक ठहरो, मैं भी चलती हूँ। इसी पर इतना कठोर दण्ड। इसे मैं कभी भी नहीं सहूँगी—कभी नहीं सहूँगी।

दृढ़ता ने धीरे धीरे पिघलना आरम्भ किया, वह जोर से

रो पड़ी। यही हमारा जीवन है। दो विरोधी जीवन जब संसार कार्य चला रहे थे, तब उसने एक दिन ऋचा से पूछा था, क्या तुम सुखी हो ? और ऋचा ने हँसकर उत्तर दिया था कि वह सुखी है, पूर्ण सुखी है। कठिन अत्याचारों की चक्की में पिस रही ऋचा से उसने पूछा था—"बहिन! तुम्हें यहां कष्ट तो बड़ा है, घर क्यों नहीं चली जाती, फिर तुम्हारा तो धन इनके पास है ले लो। विनय का तो बीमे का ही काफी रुपया था, स्वतन्त्र जीवन यापन करो, कुछ देश का भी काम करो, क्या यहां पड़ी जीवन का सर्वनाश कर रही हो ?" ऋचा ने कहा था—"मुझे यहां ही कौन सा दुःख है बहिन! दिन भर काम में लगी रहती हूँ, बच्चों से हँसती खेलती हूँ और चाहिये ही क्या ? यही मेरी देश-सेवा है और फिर जीवन ही कितने दिन का है, वह तो मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं ना ?" ऋचा के चले जाने पर मैं कितना हँसी थी ? यह मैंने कहा था अज्ञानता है—मूर्खता है! और क्या ? आज कोई मुझ बुद्धिमती से पूछे—"क्या तू सुखी है ?" ओह! कितना कठोर है यह दाम्पत्य जीवन और अभी तो पूरे दो वर्ष भी नहीं बीते ? शीला खीज उठी स्वयं अपने आप से।

जीजी

"जीजी, यह देखो ना? एक फन्दा गिर गया। ठीक कर दो।"

"मेरा अचार जीजी, बिलकुल सूख गया है। नींबू का रस और डाल दूँ क्या?"

"बच्चे को कई दिन से खाँसी आ रही है बहिन, थोड़ा फूका तो देना।"

"लो यह फन्दा ठीक हो गया, पकड़ सुरमा। हाँ, करुणा तेरे अचार में नींबू का रस कम रह गया था। पाव भर और डाल ले, ठीक हो जायगा, थोड़ा अदरक भी बारीक काट कर डाल ले। लो बहिन तुम फूका ले जाओ, थोड़े पानी में घोल कर अन्दर फुरैरी से लगा देना। चलो मैं ही लगा दूँ।" इन्हीं प्रश्नोत्तरों में ऋचा के दिन बीत रहे थे।

घर आकर जिस दिन सत्येन्द्र ने यह विधवा की अमङ्गलमयी मूर्ति मां को सौंपी थी तो बूढ़ी श्यामसुन्दरी की आँखें मोती झरने लगी थीं। ऋचा भी मां से मिल कर खूब रोई थी। शिखा ने भी ऋचा को आदर से ग्रहण किया था। जगतेन्द्र तो किसी और के पास अब जाता ही नहीं था, बुआ जो आ गई थी। दिन भर उसी के साथ लगा रहता था। सोता भी उसी के साथ था। शिखा को मानों छुट्टी हो गई थी। वह अपनी नन्हीं बच्ची में ही लगी रहती, लेकिन थोड़े ही दिनों में

ऋचा ने उन्हें इस भार से भी मुक्त कर दिया। बच्ची अब ऋचा को छोड़ते ही रोने लगती थी। गृहिणी शिखा निश्चिन्त होकर घर सम्भालने लगी। नन्हीं बच्ची भी अब ऋचा को मां-मां कह कर बुलाती। कभी कभी शिखा कह भी देती थी—"भाई मेरा बेटा भला, यह लड़की तो तुम्हारी ही है ऋची ?"

ऋचा कहती हँसकर—"और वह क्या झूठमूठ ही मुझे मां कहती है ?" सब कुछ होने पर भी घर के मालिक ऋचा पर उतने प्रसन्न न थे। उन्हें अनायास ही ऋचा के चालीस-पचास हजार रुपये के रामनारायण के पास चले जाने का दुःख था, किन्तु उससे कुछ कह न पाते थे।

एक दिन कह दिया था—"ऋची, तू कहे तो मैं दावा करके विनय का सब धन कौड़ी कौड़ी रामनारायण से धरवा लूँ। वह साला हमारा लगता ही कौन है ?"

ऋचा ने तो उत्तर नहीं दिया, किन्तु दो दिन तक रोती रही। परन्तु शिखा ने एकान्त में कहा—"लोभी महाराज, पराये धन से तृप्ति नहीं होती।"

"तो क्या मैं कुछ अपने लिए चाहता हूं। मुझे धन की क्या कमी है ?"

"तो फिर गोबिन्द काका से कह दो, यहां मामले मुकदमे करवा के कुछ प्राप्ति नहीं होगी। ऋचा को धन का लोभ नहीं। वह और ही धातु की बनी हुई है। उसे पहचान सकती हैं मां, तुम नहीं।"

"अरे भाई, तुम्हें तो पहचान सकता हूँ या वह भी नहीं ? कहो तो पहचानने के लिये किसी और को बुलाऊँ ?" परिहास से रूपेन्द्र ने कहा।

"हां, सो तो करना ही पड़ेगा। अन्यथा तुम्हारी बुद्धि पर मुझे दया भी तो नहीं आवेगी।"

उस दिन से फिर कभी रूपेन्द्र को कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ।

इस सब के बीच श्यामसुन्दरी ही अब ऋचा की सब से प्रिय साथिन थी। प्रतिदिन उनके पास बैठ कर उनके ठाकुर की आरती करके रामायण, गीता या महाभारत के दो एक अध्याय सुनाये बिना ऋचा को चैन ही नहीं पड़ता था। माँ की सेवा के अतिरिक्त वह मौहल्ले भर की स्त्रियों, लड़कियों और बहुओं को भी काम में लगाये रखती थी।

पहले भी वे लोग जिमींदार के घर आती थीं, किन्तु शिखा तो केवल ताश, चौपड़ या गपशप ही कर लेती थी। ऋचा ने आकर शिखा को भी अन्य कामों में लगाना आरम्भ किया। इस बार वह मानों नन्हीं बच्ची बनकर भाभी का शासन मानने नहीं, भाभी पर शासन करने आई थी। शिखा को यह शासन बहुत ही मधुर लगता था। स्वभाव से ही यह स्वामी के अतिरिक्त और सब से शासित होना ही पसन्द करती थी और फिर ऋचा को तो उसी ने पाल पोस कर मनुष्य बनाया। उसे वह समस्त हृदय से प्यार भी करती थी।

लड़कियों को ऋचा के निकट बैठकर पढ़ना पड़ता था। शिखा भी कभी कभी इस पाठशाला में पढ़ा दिया करती थी। बहुएँ सिलाई और घरेलू चीजें, अचार, मुरब्बा आदि बनाना सीखतीं थीं। जब कभी श्यामसुन्दरी इस लड़की का चतुर गृहणीत्व देखती तो उनके हृदय में एक शूल सा उठता। इस चतुर नारी का कोई घर नहीं, यही वेदना उन्हें मारे डालती थी।

नन्हें नन्हें बच्चे तक मौहल्ले भर से, गांव भर से आकर जीजी या बहिन जी से फूल मालायें, कागज के फूल, कपड़े की गेंद बनवा ले जाते थे। जगत उनका लीडर था ना? और जगत से अधिक उसकी बुआ पर दुनियां में और किसी का भी दावा न था।

रात को सुख के इन दिनों में भी ऋचा रोकर कहती—"हे विश्वेश्वर, लक्ष्मीपति नारायण! जब दया करके अपने इन चरणों में शरण दी है तो इनसे फिर अलग न करना। लक्ष्मी मां, गौरी अन्नपूर्णा सभी तो तुम हो, जब अपने चरणों में स्थान दे चुकी हो तो विश्वपति के ही चरणों में अपने पति को पा सकूँ ऐसी सुबुद्धि ही रखना। मां, अन्यथा मां काली अपने खड्ग से तुरन्त ही इस अपनी ही लड़की की यह लीला समाप्त कर देना।" रात्रि के अन्धकार में न जाने विश्वेश्वर ने उस पुकार को सुना या नहीं, किन्तु ऋचा का हृदय अत्यन्त आनन्द से भर उठा।

शान्त मन से ऋचा श्यामसुन्दरी के पास आकर ही सो जाती थी। श्यामसुन्दरी सोचती, "भगवान ने अवश्य उनकी प्रार्थना सुन ली, तब ही तो इस युवती विधवा के हृदय में इतनी शान्ति है, इतना गाम्भीर्य है। यही तो तपस्या है। भगवान मेरी चिर सञ्चित साधना इसी प्रकार सफल होती रहे। यही तो मेरी पूँजी है, इसी विश्वास के सहारे जीती हूँ, इसे कहीं खो न बैठूँ।" यह जोर से ऋचा को छाती से लगा कर प्यार करती २ ही निद्रा की शान्त गोद में चली जाती। अज्ञात भय अब उनके हृदय को विचलित नहीं करता था। दोनों भिन्न आयु विधवाएँ एक दूसरे से लगी हुई सो जातीं। कौन जानता है इस जीवन का मूल्य तपस्वी के तप से कहीं अधिक हो।

मान

"विमला, अधिक जी न जला। उपदेश देना मैं भी बहुत जानती हूँ किन्तु निरर्थक अपमान सहना मेरे बस की बात नहीं।"

"बहिन, उपदेश देने की न तो मेरी इच्छा ही है और न योग्यता ही। मैं तो एक ही बात जानती हूँ कि नारी स्वामी से मान करके कुछ भी न पा सकेगी। स्त्री की जब सृष्टि ही सर्वस्व देने को हुई है तो फिर मान और अभिमान कैसा?" विमला की दृष्टि शान्त थी।

"विमला, मैं सचमुच ही रवि को सब कुछ क्षमा कर सकती थी। तू नहीं जानती मैंने वहां रहकर कितना अपमान, कितना निरादर भी केवल जग हंसाई के डर से चुपचाप सहा है। हर तरह से निभाने का भी यत्न किया, किन्तु जब उस दिन उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया 'शीला मैंने तुझे अपनाने का हर तरह यत्न किया किन्तु मैं सदा ही भूलता रहा। मुझे किसी दिन भी तुझ से प्रेम न था। मेरी भूल ही तेरे प्रेम का कारण हुई, अन्यथा शायद तू भी मुझे किसी दिन भी प्रेम नहीं करती थी। यदि करती होती तो आज मेरा हृदय अशान्त न होता।' तो मैं सह न सकी। नारी पुरुष का सब अत्याचार सह सकती है किन्तु अपने गम्भीर प्रेम का अपमान उससे सहा नहीं जाता। विमला मैंने बहुत कुछ ठुकराकर रवि को चुना था, उसका क्या

यही प्रतिदान है ?" शीला कुछ उत्तेजित हो उठी।

"दान, प्रतिदान की बात मैं क्या जानूँ शीला। मैं तो यही जानती हूं कि हिन्दू-स्त्री पति की इच्छा को ही सर्वस्व समझती है। इससे वह पति की स्वामिनी होती है, दासी बनकर स्वामिनी बनने की क्षमता उसे त्याग से ही प्राप्त होती है अन्यथा वह भी अन्य देशों की नारियों की तरह पति का 'बैटर हाफ' ही न रह जाती, पर यहाँ वह अच्छा अंश ही नहीं वरन् पुरुष का सर्वस्व है।

"इसीलिये दुनियां भारतीय नारी पर हंसती है।"

"किन्तु हंसकर भी उन्हें वह मधुर दाम्पत्य जीवन तो मिलता ही नहीं।" व्यंग का उत्तर व्यंग था। कुछ ठहर कर विमला ने कहा—"सो तो सही है शीला। मान ले रवि शर्मा ने अपराध ही किया किन्तु जब वह क्षमा प्रार्थना करने आये तब भी अभागी तू मान क्यों न गई ?"

"अपमान की तीव्रता कम नहीं हुई थी इसीलिये। विमला तुम सोच रही होगी कि मैं यहां रह कर माता-पिता का भार बनूँगी। यह तुम्हारी भूल होगी। शीला, इस विस्तृत संसार में अपना मार्ग आप ही चुनेगी, किन्तु जो उद्देश्य लेकर चली है अनेकों कठिनाईयाँ होने पर भी उसे छोड़ेगी नहीं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उसे प्यारी है। इस घर में दुबारा आये एक साल होगया, मां से किसी दिन भी दुलार नहीं पाया। क्या इसीलिए कि मैं उनका भार हूं ? माँ समझ ले कि उनकी शीला नाम की कोई सन्तान ही न थी। मेरा एक वर्ष और है, एम०ए० करके कहीं गुजारे योग्य नौकरी की कमी नहीं रहेगी। उसी समय संसार क्षेत्र में कूद पड़ूंगी। स्वतन्त्र जीवन और व्यक्तिगत

स्वाधीनता का प्रचार यही जीवन के उद्देश्य होंगे। तब मां भी देख लेगी और रवि भी कि शीला का काम इन लोगों के बिना भी चल सकता है। अलबत्ता पिता जी को कुछ दुःख होगा किन्तु अन्य उपाय ही क्या है ?"

"बहिन, मां का हृदय कैसे समझोगी। मां बनना तो तुमने सीखा ही नहीं। शीला बहिन, छोड़ो इन व्यर्थ के विचारों को, संसार सागर बड़ा विस्तृत है, तुम जैसी दुर्बल नारी उसे अकेली पार कैसे कर सकेगी।"

"अगर ऋचा अकेली ही उसे पार कर सकती है तो शीला क्यों न कर सकेगी। ऋचा को जीवन के लिये भी दूसरे का आश्रित होना पड़ता है, शीला अपने अतिरिक्त अन्य चार को भी खिला सकती है। तुम निश्चित रहकर बाल-बच्चों का पालन करो। शीला के जीवन-यापन के लिये सिर खपाने की आवश्यकता नहीं।"

पिछले वाक्य को सुना अनसुना करके विमला ने फिर कहा—"शीला ऋचा बहिन की बात न करो। अनेक बार जिमीन्दार के घर उन्हें देखा है। वह भली प्रकार अकेली ही अपना उद्धार कर सकेंगी। शीला बहन क्षमा करना, उनके पास है अन्ध विश्वास का, श्रद्धा का बल। प्रस्तर प्रतिमा पर वह दृढ़ विश्वास कर सकती हैं। इसी दृढ़ मानसिक विकास की शक्ति लेकर वह निर्विघ्न यह कठिन जीवन सफलता-पूर्वक बिता देंगी और ऐसा केवल हिन्दू, सच्ची हिन्दू विधवा ही कर सकती है। कठिन वैधव्य शायद उसे विधाता वरदान की तरह सृष्टि भर की मां बनने के लिये ही देता है। वह देवी है, तपस्विनी है। किन्तु तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारा विश्वास,

तुम्हारा आश्रय लेने का बल पश्चिमीय शिक्षा, यूरोप की नारी के स्वातन्त्र्य आदर्श ने छीन ली है। तुम कौनसा आश्रय लेकर चलोगी सो तो मुझे दिखाई नहीं पड़ता।" सहानुभूति के स्वर में विमला धीरे धीरे कह गई।

"सो तुम्हें सिखाना न पड़ेगा विमला। क्या पाप है और क्या पुण्य, यह मैं खूब समझती हूँ। ऐथिकस का भी मैंने खूब अध्ययन किया है। जो काम अन्धविश्वास सहज ही कर सकता है, वह मैं ज्ञान और बुद्धि से क्या, यत्न करने पर भी न कर पाऊँगी? किन्तु रवि के द्वार पर तो अब मुझ से जाया नहीं जायेगा। यही ध्रुव निश्चय है।"

"रवि के क्षमा माँगने पर भी नहीं?"

"नहीं, तब भी नहीं, कभी भी नहीं। विमला तुमने गाँव में रह रह कर वहीं की विचारधारा भी ग्रहण कर ली है, किन्तु शीला तो वह सब कुछ बुद्धि से परे की शिक्षा ग्रहण न कर सकेगी। कोई और शिष्या ढूँढो।" व्यङ्ग से शीला ने कहा।

"उसकी कोई वैसी आवश्यकता नहीं।" उदास मुख से विमला ने कहा।

"विमला बहिन! तुम सच्ची सहानुभूति से मुझे समझाने आई हो, तुम्हारी सहानुभूति और प्रेम का तो उपहास न करूँगी, किन्तु यह याद रखो शीला ने एक दिन स्वेच्छा से ही रवि को प्रेम किया था, विवाह किया था और आज स्वेच्छा से ही सम्बन्ध विच्छेद कर रही है। शीला स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र ही रहेगी। तुम पति पुत्र लेकर अपना घर संसार करो, शीला के पचड़े में न पड़ो, वह जो कुछ करेगी अपनी ही नीति पर करेगी।

शीला कविता की उड़ान कभी की छोड़ चुकी है। अब वह वास्तविक जगत की ही बात करेगी, इससे अधिक कुछ नहीं।" शीला बिलकुल ही शान्त हो गई।

विमला उठ कर खड़ी हो गई। उसकी गोद की लड़की रोने लगी थी। कुछ देर बच्ची को लेकर टहलने के बाद विमला ने कहा—"अच्छा, तब वैसा ही करो, किन्तु फिर कोई नया खेल खेलने के पूर्व ही मर सको, वैसा ही उपाय करना। अब फिर नहीं आऊँगी। जिस दिन सुनूँगी शीला मर गई, जीवन की कठिनाइयों को अकेले ही पार करके पवित्रता से मर गई, उस दिन आऊँगी, शीला को याद करके खूब रोऊँगी और बस। या फिर जिस दिन तुम अपने स्वामी के चरणों पर सिर रख सको तो याद करना, आकर जी भर कर आशीर्वाद दे जाऊँगी, किन्तु इस बीच में फिर तुम्हें कष्ट न दूँगी शीला।" अधिक उत्तेजना से विमला की साँस फूल गई।

शीला ने कहा—"तब फिर पहला ही हो सकेगा। दूसरे की तो कोई सम्भावना ही नहीं।" इस बार शीला के मुख पर हँसी थी।

बिमला उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही चली गई थी।

शीला ने समग्र शक्ति से राजनीति की गूढ़ पुस्तक में ध्यान लगाया किन्तु मन खुली पुस्तक के नन्हें नन्हें अक्षरों को छोड़कर कहीं और ही उड़ रहा था। "तब क्या मैंने भूल की? मेरा अभिमान मिथ्या है क्या? पुरुष के बिना मैं जी न सकूँगी क्या?" इस विचार पर भी शीला व्यङ्ग की हँसी से भर उठी। "मुझे संसार में बहुत से काम हैं, नारी मण्डल की स्थापना करनी है, शिक्षा का महिलाओं में प्रचार करना है, देश

के नारी समाज तक भारत मां की आवाज पहुँचानी है। यह सब कार्य क्या कम महत्वपूर्ण हैं ? अशिक्षिता नारी यदि संयम कर सकती है तो सुशिक्षिता शीला कहीं अधिक कर सकेगी। यही नहीं, वह आजादी की हुङ्कार से देश के कोने कोने में माँ का सन्देश गुँजा देगी। किन्तु कहीं यह धोखा तो नहीं है। कहीं सचमुच वह अपनी दुर्बलता को छिपाने का यत्न तो नहीं कर रही है ? उस दिन धीरेन्द्र भी कह रहा था कि शीला तुमने अच्छा नहीं किया। तब क्या भारत में नारी-स्वातन्त्र्य असम्भव है ? क्या यह स्त्री की आजादी की लड़ाई सब दिखावा ही है ? नहीं मैं इसे सत्य करके ही छोड़ूगी। मुझे यह सत्य सृष्टि के सम्मुख रखना ही पड़ेगा। नारी पुरुष की दासी भी न बन सकेगी और परिस्थितियों की तो और भी नहीं।" शीला ने पीठ कुर्सी के सहारे टेक ली। आज कल वह किसी कालेज के छात्रावास में रह रही थी। बाहर छोटी छोटी फर्स्ट ईयर की बालिकाओं को लेकर बड़ी लड़कियाँ हँसी मजाक़ कर रहीं थीं। शीला को कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उसने खड़े होकर खिड़की बन्द कर दी। बाहर के स्वर धीमे पड़ गये थे, फिर भी अन्दर का स्वर अत्यन्त तीव्र था। चाय की घण्टी सुनाई दी, किन्तु शीला की इच्छा चाय पीने की न थी। आँखें बन्द करके विचारों में ही लीन रही।

बाहर दो छात्रायें कह रहीं थीं—"मुझे मालूम है शीला जो एम० ए० में पढ़तीं हैं ना, उसका विवाह हो चुका है।"

"तुझे कैसे मालूम ?"

"वाह ! मेरा भाई इनके पति का मित्र है, वही कह रहा था।"

"अच्छा !" स्वर में आश्चर्य था।

"यह अपने पति को छोड़ कर आई है।"

"अरे ?" लड़की ने कुछ ऐसे घृणा भरे स्वर में कहा कि शीला सिहर उठी। झट से एक मात्र खुला द्वार भी बन्द कर मुँह छिपा कर शीला बिस्तर में आन पड़ी। उसकी इच्छा हो रही थी कि खूब रोऊँ, किन्तु आंखों का जल मानों कभी का सूख चुका था।

प्रथमाहुति

"सरकार, गरीब आदमी जो कुछ कहेंगे, ठीक थोड़े ही माना जायेगा ?"

"मैं क्या तुम्हें ऐसा ही समझता हूं काका ?"

"नहीं भईया, छोटे आदमी वही काम करें तो पाप कहलाता है, बड़े आदमी करें तो कहे कौन सरकार।"

"नहीं, नहीं कहो भी तो भाई। ठीक-ठीक, साफ-साफ सुना डालो।" रूपेन्द्र ने कहा। उस दिन उनका मन बड़ा ही अनिश्चित हो रहा था। रात से सत्येन्द्र घर नहीं आया, कोई खबर भी नहीं भेजी। सारे घर के प्राणी चिन्ता कर रहे हैं। इधर कितने ही दिनों से गोविन्द काका घर के कर्त्ता-धर्त्ता हो रहे थे। बहुत कुछ परिश्रम करके उन्होंने जमींदार का मन सत्येन्द्र की ओर से बहुत कुछ मैला कर डाला था, फिर भी

अभी तक खुल कर झगड़ा कभी नहीं हुआ था, कुछ सत्येन्द्र की नम्रता की वजह से और कुछ शिखा के बीच में पड़ जाने से। यहां तक कि शिखा से भी रूपेन्द्र कुछ अप्रसन्न रहने लगा था। धरती तैयार थी ही, केवल बीज डालने की देर थी। गोविन्द काका ने अधिक विलम्ब न करके इधर उधर देखकर कहना आरम्भ किया—

"भैय्या गरीब आदमी हूं, यदि बुरा लगे भाई तो क्षमा करना।" वह कुछ ठहर गया।

"कुछ कहोगे भी ?" अधीर रूपेन्द्र ने कहा।

"कल से छोटे भइया घर नहीं आये।"

"सो तो मुझे ज्ञात है। आगे कहो ना ?"

"रात भईया कहां रहे सो तो भला मैं कैसे कहूं। आप राजा आदमी हैं, कहते हैं तो सरकार आपके कल्याण के लिये कहूँगा ही। छोटे राजा कल बढ़ियाल में रात भर एक विधवा चमारी के सिरहाने बैठे रहे। अभी तक भी वहीं हैं। विधवा न किसी के घर ही बैठती है, न कहीं मरती भागती ही है। छोटे सरकार पिछले दो तीन मास से वहां बहुत आते जाते हैं। सरकार गरीब तो हम लोग हैं, पर सरकार जानते ही हैं कि मैं पाप नहीं देख सकता। सरकार की आज्ञा होगी तो कहीं काला मुंह करके बुढ़ापे में निकल जाऊँगा, पर सरकार इस गांव का पानी तो न पीऊँगा। आगे सरकार के चरणों पर सिर है ही महाराज।"

"काका ऐसा क्यों कहते हो। मैंने कभी तुम्हारी बात टाली है। सत्येन्द्र बच्चा है, उससे पूछूंगा।"

"नहीं सरकार, छोटे भइया को प्रायश्चित करना होगा,

नहीं तो हम ब्राह्मण तो यहां का जल छुयेंगे नहीं, सरकार! बड़े आदमी अन्धेर करें और छुट जायें तो छोटे क्या करेंगे?" धृष्ठता से गोविन्द काका ने कहा।

रूपेन्द्र मन ही मन इस दुष्ट ब्राह्मण के चंगुल में फंस जाने से कांप उठे। उनके आगे भी बाल-बच्चे थे और इस ब्राह्मण की स्पष्टवादिता से रूपेन्द्र डरते थे। सोच समझकर रूपेन्द्र ने कहा—"काका, सत्येन्द्र भी तुम्हारा है, तुम्हारे कहे से बाहर इस घर में कौन जायेगा। प्रायश्चित हो जायेगा।" कहकर रूपेन्द्र ने दस रुपये काका के हाथ में दिये, "जाओ काका, बाल-बच्चों के लिये कुछ लेते जाना, कल फिर आना। तब कुछ बात-चीत होगी।" कुटिल ब्राह्मण मुस्कराता चला गया। जाते जाते जमीन्दार को आशीर्वाद भी देता गया।

सन्ध्या तक रूपेन्द्र आंगन में ही बाहर वाले चबूतरे पर बैठा रहा। सब से अधिक क्रोध उसे सत्येन्द्र पर आ रहा था। "इसे मरने को कोई और न मिला था? पचास लड़कियों के पिता रोज एड़ियां रगड़ते हैं। तब तो राजी ही नहीं होता। कहता मां कष्ट में है तो विवाह कैसा? यह चमारियों के सिरहाने बैठकर भारत मां की अच्छी सेवा हो रही है। धूर्त, तब ही घर में बैठा नहीं जाता। आज देखो कैसा ठीक करता हूँ।" विचारों में उलझे हुये रूपेन्द्र को सत्येन्द्र का कुम्हलाया हुआ मुख दिखाई दिया। सत्येन्द्र रूपेन्द्र से डर तो रहा था किन्तु चित्त शान्त था। सामने ही भाई को बैठे देखकर सत्येन्द्र ने भाई के चरण छुये।

"जाओ कुछ खा पी आओ। फिर जरा मेरे पास आना।" रूपेन्द्र ने रूखे से मुख से कहा।

"आज्ञा भईया ?"

"नहीं फिर आराम आदि करके आना।"

सत्येन्द्र सदा से ही भाई से दबता तथा उनका आदर करता रहा है। भाई ने समय समय पर उसे धमकाया भी है और पीटा भी। किन्तु इस तरह गम्भीर मुख से बात-चीत कभी नहीं की। यह तो एक दृढ़ निश्चय की ध्वनि थी। नहा-धोकर, खा पीकर सन्ध्या समय सत्येन्द्र भाई के पास आ बैठा। इसी बीच रूपेन्द्र मां से सारी घटना सुना आया था। यह भी कह आया था कि मां सत्येन्द्र को प्रायश्चित करना ही होगा।

श्यामासुन्दरी सुनकर कुछ भी नहीं बोली, ठक सी बैठी रही। ऋचा ने भी सुना किन्तु वह हंस पड़ी। किन्तु शिखा चिन्ता से घबरा उठी। स्वामी का स्वभाव वह जानती थी। वह कितने दृढ़ निश्चयी हैं यह भी वह जानती थी, और इधर किस प्रकार उनका मन एक-मात्र कनिष्ठ भ्राता के विरुद्ध होता जा रहा है, यह भी उससे छिपा हुआ न था। किन्तु वह कुछ भी कर नहीं पा रही थी। न जाने क्यों स्वामी उसकी इसी बात को मानने को पूरी तरह से तैय्यार न थे। फिर भी उसका प्रभाव कुछ कम न था तो भी आज उसे अपने बल पर विश्वास नहीं होरहा था और फिर आज स्वामी भीतर आये भी तो नहीं। धड़कते हृदय से परिणाम की प्रतीक्षा करती रही।

"कल रात तुम कहां रहे ?"

"बढ़ियाल।"

"देखो झूठ न कहना, वहां क्या करते रहे ?"

"भईया आपके सामने मैंने कभी झूठ बोला है ? एक बिचारी चमारी बीमार थी, उसी की सेवा करता रहा।"

"गांव में और कोई न था ?"

"थे तो सही पर मनुष्य न थे। उसके अपने घर में तो कोई है नहीं। एक पुत्र आठ साल का है। अन्य कोई हैजा हुआ जानकर आने को तैय्यार नहीं हुआ।"

"तो तुम्हीं सब से बड़े महात्मा रह गये थे ?"

भाई के आश्चर्यजनक व्यवहार से सत्येन्द्र चकित हो गया। फिर भी उसने कहा।

"भईया, सेवा करना प्रत्येक मानव का धर्म है।"

"पहले भी उस गाँव में जाते रहे हो ?"

"हाँ।"

"कब से ?"

"लगभग पिछले दो मास से।"

"इस चमारी से भी मिलते रहे हो ?

"हाँ !" रूपेन्द्र को गोविन्द काका की प्रत्येक बात पर विश्वास आ गया, सीधे सादे विचारों वाले आलसी व्यक्ति जो थे। कोई निस्वार्थ भाव से सारी रात बैठकर किसी के लिये कष्ट उठा सकता है, यह उनकी कल्पना से भी परे की बात थी।

"नीच, कुलांगार, धर्म का नाम लेते लज्जा नहीं आती। युवती, विधवा युवती के सिरहाने बैठकर रात गुजारता है और बनता है धर्मात्मा।"

आश्चर्य चकित होकर सत्येन्द्र ठक सा रह गया।

"भईया" उसने दीनता से कहा, "अपराध हो जाये तो दण्ड दे लीजिये किन्तु अविश्वास न करें। इससे कठोर दण्ड मेरे लिये और कोई नहीं।" चरण छूकर सत्येन्द्र बोला।

"अच्छा फिर प्रायश्चित तो करना ही पड़ेगा। तनिक

एक बार जाकर गोविन्द काका से मिल आओ।" एक क्षण में बिजली की भान्ति सारी बात सत्येन्द्र की समझ में आई। बैठा था, उठ खड़ा हुआ। तेजी से गरज कर उसने कहा—"सो न होगा भईया ? मैंने कोई पाप नहीं किया, प्रायश्चित भी नहीं करूंगा। विश्वास कर सकते हों तो अपने सत के वचन पर विश्वास करें।"

"प्रायश्चित करना ही पड़ेगा सत्येन्द्र ?"

"सो न कर सकूंगा।"

"मेरी आज्ञा है।"

"तब भी नहीं।" आज तक सत्येन्द्र ने कभी ऐसी बात रूपेन्द्र से न कही थी। रूपेन्द्र को भी ऐसी बातें सहने का अभ्यास न था। सिर से पैर तक रूपेन्द्र जल उठा।

"मेरी आज्ञा नहीं माननी है तो मेरे घर में तेरे लिये स्थान नहीं। हिस्सा बांट लो।" रूपेन्द्र को मालूम नहीं था कि बात यहां तक पहुंच जायेगी। उन्होंने अन्तिम वाक्य केवल भाई को डराने के लिये ही कहा था। अन्दर बैठी स्त्रियों के कानों में भी अन्तिम कुछ वाक्य पड़ रहे थे। अन्तिम वाक्य सुनकर और परिणाम की आशंका से सब कांप उठीं।

"सो ही हो भईया ! किन्तु बटवारा न होगा। जब आपका स्नेह और विश्वास ही खोकर जा रहा हूं तो धन का क्या होगा ?" बिना सोचे समझे सत्येन्द्र ने भाई के चरण छूकर प्रणाम किया और अन्दर चला गया। माँ के चरण छुये– "मां, मैं जाता हूं, प्रणाम।"

श्यामसुन्दरी का इस गृह-कलह से हृदय फट रहा था किन्तु कुछ कहना वह सीखी ही न थीं, उन्हें माता कौशल्या

का समय स्मरण आ गया, जब तेजस्वी राम अन्तिम विदा लेने आये थे। वह हिल भी न सकी।

शिखा ने सम्मुख आकर कहा—"भईया, केवल आज की रात रह जाओ। उन्हें भ्रम हुआ है। अपनी भाभी की इतनी प्रार्थना रक्खो।"

"नहीं भाभी, अब तभी आऊंगा जब भईया स्वयं विश्वास कर लेंगे। समय उन्हें दिखा देगा।"

"केवल एक रात सत्येन्द्र ?"

"नहीं" दृढ़ता से सत्येन्द्र ने कहकर भाभी के चरण छुये। शिखा अपनी लाचारी पर स्वयं ही रो पड़ी। आधी रात को सारे दिन रात के थके हुये लड़के को बाहर जाने देते माँ का हृदय फट रहा था, किन्तु माँ चुप थी। बोलना उसने सीखा ही न था।

जगत को चूमकर जब सत्येन्द्र बाहर के आंगन में आ खड़ा हुआ तो ऋचा ने जाकर पूरी ऊँचाई में खड़े होकर कहा—"भईया, कार्य्य क्षेत्र में अकेले ही जाओगे ? इस अभागी बहिन को कहां छोड़ जाओगे ? रोगी सेवा के लिये ऋचा की भी आवश्यकता पड़ेगी ही। मैं भी चलती हूँ।"

"नहीं बहिन तू घर ही रह। यहीं तेरा क्षेत्र है। तुझे आशीर्वाद देता हूं...।"

"चुप, आशीर्वाद मेरे लिये अब यही है कि मानव-मात्र की सेवा का व्रत ले लूँ।"

"नहीं।"

"हां।" कहकर ऋचा ने जाकर रूपेन्द्र, मां और शिखा के इतने चरण छुये कि किसी के मुख से कोई शब्द भी नहीं

निकला। लज्जा छोड़कर शिखा ने पति के पास जाकर कहा—"उन्हें रोक सकते हो तो रोको।" रूपेन्द्र शिखा के कन्धे पर सिर रख कर फूट फूट कर रोने लगा। वह दोनों द्वार से बाहिर कभी के हो चुके थे।

जगत बार बार दादी से पूछ रहा था—"मां जी, बुआ कहां गई ? चाचा कहां गये ?"

श्यामासुन्दरी पत्थर की प्रतिमा के समान बैठी थी। "आज मैं मां होकर जो न कर सकी, वही उस पराई लड़की ने सहज ही कर डाला।" पुत्र को आशीर्वाद देना भूलकर वह ऋचा को ही हृदय से आशीर्वाद देने लगी।

रूपेन्द्र के हृदय का सारा मल आंसुओं से घुल गया किन्तु सत्येन्द्र फिर घर नहीं आया। उन दोनों का सामान आदि वहीं भेज दिया गया पर अत्यन्त आवश्यक चीजों को छोड़ कर उन्होंने कुछ भी न रक्खा। रूपेन्द्र को उस दिन से फिर किसी ने हँसते नहीं देखा।

आजादी

"तब फिर क्या मैं वास्तव में ही असफल हूँ सब कहीं ? हर तरह ?" शीला स्वयं अपने से पूछती थी। सम्मान के साथ फस्ट डिवीजन में एम० ए० पास करके शीला एक सौ पच्चीस रुपये मासिक पर एक स्थानीय महिला कालेज में लेक-

चरर भी नियुक्त हो गई। जीवन की गति एक ओर होगई थी। चुनाव का प्रश्न नहीं था, प्रश्न था ढालने का। शीला जीवन के एक ढंग का चुनाव कर चुकी थी। उसे धैर्य्य-पूर्वक भारत की बच्चियों को राजनीति जैसे आवश्यक विषय की शिक्षा देनी होगी, अपने रंग में ढालना होगा। मेंढक की भांति अन्धकूप को ही जगत समझकर पड़ा न रहने देना होगा। उसने निश्चय किया कि वह बालिकाओं को स्वतन्त्र जीवन की शिक्षा देगी। उन्हें यूरोप की आदर्श नारियों की भांति ही स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ायेगी। स्वयं उसने अब अपने आप को स्वतन्त्रता के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा लिया था। माँ ने नौकरी की खबर सुनकर केवल ठंडी साँस ली थी। पिता ने कुछ दुःखित होकर कहा—"बेटी नौकरी करोगी, यह तो अच्छा ही है किन्तु घर ही पर बनी रहो ना? हमारे सात पांच सन्तानें तो है नहीं, एक तुम हो और एक नन्हा। तुम लोगों को देखते ही देखते आंखें बन्द हो जायें, सो ही उपाय करो?"

शीला ने उत्तर दिया—"पिता जी! आप ही ने तो मुझे स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया था। घर पर यह सुविधा न हो सकेगी। न हो एक आध माह रह आने दीजिये। यदि घर से अधिक सुविधा नहीं हुई तो आ जाऊँगी।"

शीला घर वालों को, संसार को, समाज को यह दिखा देना चाहती थी कि वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अब उसकी समझ से और कोई बाधा नहीं रह गई थी। वह शिक्षिका बन गई थी। इसी बीच रवि शर्मा नगर छोड़ कर न जाने कहां चला गया। अभी कालेज में लेकचर देते दो तीन ही दिन हुए थे कि अचानक

स्टाफ रूम में एक पर्चा शीला के लिए आया। शीला को मिसेज क्षितिकर प्रिन्सीपल ने बुलाया था। शीला प्रिन्सिपल के पास पहुंची।

"मिसेज शर्मा, क्या आप होस्टल वार्डेन का कार्य कर सकेंगी ?"

"क्या करना होगा मिसेज क्षितिकर ?"

"हर समय होस्टल में ही रहना होगा। स्वतन्त्रता से बाहर आ-जा न सकेंगी। जिस दिन आपको बाहर जाना हो मुझ से आज्ञा लेनी होगी। आपको इसके लिए अलाऊँस दिया जायेगा।"

फिर वही स्वतन्त्रता पर नया घात। इसीलिए तो उसने घर छोड़ा था। घर में उसे धन की कमी न थी। इसीलिए उसने प्रेमपूर्ण पति का त्याग किया था, फिर वही, यहां भी स्वतन्त्रता लूटने की तैयारी। उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

"मिसेज क्षितिकर क्षमा करें, मैं यह काम न कर सकूँगी।"

"यह तो आपको करना ही होगा मिसेज शर्मा। हमारी वार्डेन ने त्याग-पत्र दे दिया है और जब एक व्यक्ति अध्यापिकाओं में से होस्टल में रहती ही हैं तो मैं व्यर्थ रुपये खर्च करके एक पूरे समय की वार्डेन न रख सकूँगी। मेटरन तो आपके साथ काम करेगी ही। वैसे भी हम किसी अध्यापिका का जो कि होस्टल में रहती हो अधिक देर तक होस्टल से बाहर रहना अपनी नीति के विरुद्ध समझते हैं।"

"तब मैं होस्टल छोड़ दूँगी।" चिढ़ कर शीला ने कहा।

"किन्तु जब तक दूसरी वार्डेन नियुक्त नहीं होती आपको यह काम करना ही होगा।" दृढ़ता से प्रिन्सीपल ने कहा।

"मैं इतना बन्धन नहीं सह सकूँगी। मेरा त्याग पत्र स्वीकार करें। मिसेज क्षितिकर मैं यहाँ स्वतन्त्रता की खोज में आई थी। एक की दासता छोड़ कर दूसरे की ग्रहण करने नहीं।"

मिसेज क्षितिकर एक अनुभवी व्यक्ति थीं। इसी कालेज में पिछले पाँच वर्ष बिता दिये थे। पहले भी अनेक कालेजों में कार्य किया था। उन्हें विधवा हुए भी ६ ही वर्ष हुए थे। इस नई अध्यापिका की स्वतन्त्रता की कल्पना सुन कर मन ही मन हँसी। शीला की कहानी भी उनसे छिपी हुई न थी, उसके मन की अवस्था भी अज्ञात नहीं थी। सहानुभूतिपूर्ण स्वर में बोलीं—"अच्छा, मिसेज शर्मा इस बार तो किसी तरह निभा दीजिये फिर देखा जायेगा। आपसे प्रार्थना करती हूँ।"

प्रार्थना शब्द आदर के लिए था, वास्तव में अर्थ चाहे कुछ भी न हो। कुछ सोच समझ कर शीला को मानना ही पड़ा। पिंजरे की चिड़िया बहुतेरी कोशिश करके पर फड़फड़ाकर ही रह गई। चोट तो अवश्य लगी पर उड़ न सकी। पिंजरे के एक भाग से दूसरे में चले जाने पर भी नहीं, कभी भी नहीं।

अभी शीला को पढ़ाते एक मास ही व्यतीत हुआ था कि एक दिन कक्षा में स्वतन्त्र प्रकृति अध्यापिका की स्वतन्त्र प्रकृति छात्राओं ने विद्रोह कर दिया। बालिकाओं की इच्छा श्रेणी की साधारण मासिक परीक्षा देने की न थी। शीला को प्रिन्सीपल की आज्ञा मास में अवश्य एक बार टैस्ट लेने की थी। उसने प्रार्थना की, समझाया और यह सब व्यर्थ होने पर अच्छी तरह

डाँटा भी। छात्रायें कुछ पुराने हिन्दू काल की शिष्या तो थी ही नहीं कि अध्यापिका की इच्छा और आज्ञा को शिरोधार्य करतीं। उन्होंने तो स्वतन्त्रता, जनतन्त्रवाद, मानव जन्मसिद्ध अधिकार आदि सिद्धान्त पढ़े थे। स्वयं शीला भी पिछले छब्बीस दिनों में उनके मस्तिष्क में यही विचार बैठा रही थी। इसीलिए वह कालेज में एक प्रगतिशील तथा अच्छी अध्यापिका समझी जाती थी। उसकी प्रिय छात्राओं की भी कमी न थी। आज फिर छात्रायें उसके उपदेशों की परीक्षा उस पर ही क्यों न करें? उसने बहुमत का आदर क्यों नहीं किया, चाहे वह बहुत अनुचित ही क्यों न हो? शीला ने छात्राओं को बहुतेरा कक्षा में आने को कहा, परन्तु उन्होंने आने से इन्कार कर दिया। इस नवीन प्रगतिशील नवीन लेकचरर् की दशा पर सहानुभूति का अनुभव करके एक पुरानी अध्यापिका मिस गोरोवाला ने शीला से कहा—

"मिसेज शर्मा! हम लेक्चररों को बहुत दब कर रहना पड़ता है। हमारी अवस्था इस वर्तमान युग और आधुनिक शिक्षा ने अत्यन्त दयनीय कर दी है। एक ओर अधिकारीवर्ग का भय और दूसरी ओर छात्रायें, फिर इन स्वतन्त्र प्रकृति की छात्राओं को प्रसन्न करने की इच्छा—इन दोनों ने मिलकर हमें पीस डाला है। अतः तुम्हें इन उद्दण्ड लड़कियों का कहना मानना ही होगा। अधिक जिद न करो।"

"किन्तु यह तो मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है मिस गोरोवाला!" शीला ने कहा।

"सिद्धान्त घर ही रहते हैं, वह पढ़ने के लिए हैं क्रियात्मक रूप में वर्तने के लिए नहीं।" हँसते हुए मिस गोरोवाला नेकहा।

"तब क्या प्रिंसीपल भी कोई ध्यान नहीं देंगी ?" शीला ने बेचैनी से कहा।

"प्रिंसीपल भी इन उद्‌दण्ड लड़कियों का क्या कर सकती हैं ?"

शीला खड़ी न रह सकी, हताश होकर कुर्सी पर बैठ गई। एक तीर अभी तरकश में बाकी था।

"किन्तु मिस गेरोवाला ! क्या यह मेरे उपकार का ध्यान भी नहीं करतीं। मैं तो अपने इस स्वतन्त्र छोटे से जीवन में केवल इन्हें ही पुत्री या बहिनों की तरह प्यार करके जीवन बिताना चाहती हूँ और करती भी हूं। इनमें प्रायः प्रत्येक पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देकर उनका काम करती हूं, क्या यहाँ प्रेम का, अपनेपन का कोई मूल्य नहीं और टेस्ट भी तो इन्हीं के लाभ के लिए है।"

मिस गेरोवाला इस बार ठठाकर हंस पड़ी। स्टाफ रूम से बाहर भी उसकी हंसी गूंज उठी।

"अभी अनुभवहीन हो ना। मिसिज शर्मा न केवल यह बच्चियां जो आज हैं कल चली जायेंगी, वरन तुम्हारी सच्ची लगन, मेहनत और प्रेम का प्रतिदान भी यहां कोई नहीं देगा। तुम्हारी भावनाओं को ठेस लग रही है, क्षमा करना, किन्तु यहां सच्चा प्रेम नहीं पा सकोगी। हां, यदि किसी प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्य की सम्बन्धी हो तो शायद कुछ आदर मिल जाये, वरना यहां भी ठगी ही जाओगी। आप मजदूरों का उद्धार करती हैं, करिये, किन्तु शिक्षा-विभाग का उद्धार कौन करेगा, सो भगवान ही जाने ? हमारी अवस्था तो मजदूरों से भी अधिक दयनीय है। वह जी खोलकर रो तो सकते हैं, हमें

उतनी भी स्वतन्त्रता नहीं। अपनी इज्जत के, पदवी के और काम के नाम पर हमें शिकायत करना भी निषिद्ध है। समाज के गुरुजन होकर हम कहां शिकायत करें और किससे करें।"

हँसी कभी की विलुप्त हो चुकी थी। वह कहती गई—"एक पैसा लेकर चार पैसे का काम किये जाओ। न्याय, अन्याय, अत्याचार सब आँख मूँद कर सहे जाओ, तब ही यहां काम चल सकेगा। यह वैदिक युग की पाठशाला नहीं है, केवल नवीन युग का कालेज है। लड़कियाँ तुम्हारी प्रिय-पात्र होकर परस्पर एक दूसरे को हँसी का लक्ष्य तो बनाती रहेंगी, फिर परीक्षा देकर चली जाएँगी, किन्तु किसी दिन भी मानव मात्र की ही तरह, गुरु समझना तो दूर रहा, तुम्हें अपनी सहानुभूति का अधिकारी भी न समझेंगी। तुम तो सदा ही परायी रहोगी, ग़ैर रहोगी। यही लड़कियां जो आज तुम्हारी फेवरिट कही जाती हैं क्या तुम्हें सच्चे हृदय से प्रेम करती हैं? अपना समझती हैं? कदापि नहीं, यह चाहती हैं शुष्क अधिकार। न इन्हें प्रेम की आवश्यकता ही है और न खोज की ही।"

यही तो अवस्था शीला की भी थी। उसने प्रेम नहीं, समानाधिकार खोजा था, किन्तु आज अपने ही ऊपर उसका नग्न रूप में प्रयोग देख कर वह काँप उठी। घण्टा बज गया था। मिस गोरोबाला अपनी कक्षा में चली गई, किन्तु शीला वहीं बैठी रही। "तब क्या अधिकार की मांग इतनी भयङ्कर है? सच तो है, मैं, मेरा तड़पता हृदय प्रेम के लिए क्यों भूखा है? मुझे दूसरों से यह शिकायत क्यों हो कि मुझे वह प्रेम नहीं देते? मैंने प्रेम चाहा ही कब था, मैं तो अधिकार चाहती

रही, शुष्क नीरव अधिकार।" अपने कमरे में आकर शीला का हृदय शान्त नहीं हुआ। उसने लड़कियों से समझौता कर लिया था। टेस्ट फिर नहीं लिया गया, किन्तु शीला के सम्मुख भयंकर प्रश्न उपस्थित हो गया—"क्या यही स्वतन्त्रता है जिसके पीछे मैंने सब कुछ त्याग दिया; पिता, माता, पति, घर सब कुछ। किन्तु मिला क्या? असफलता, घृणा और ग्लानि। तब क्या मैं वास्तव में यहां भी सफल न हो सकूँगी? कहीं भी नहीं, किसी तरह भी नहीं।" आज उसका मन ही नहीं लग रहा था। सन्ध्या समय जब उसकी एक छात्रा उसे अपने कमरे में ही बैठे देखकर बैडमिन्टन खेलने के लिए बुलाने आई तो शीला प्रतिदिन की तरह प्रसन्न मुख से 'आओ, आओ करुणा!' न कह सकी। प्रत्युत्तर भी सुन्दर न था। उससे केवल यही कहा गया—"मेरा जी अच्छा नहीं है, मैं आज तुम्हारे साथ न खेल सकूँगी। चपरासी से कहो एक गिलास ठण्डा पानी दे जाये।" आज जलता हृदय बुझाने के लिए क्या ठण्डे पानी की आवश्यकता थी? हां, क्योंकि घर की तरह यहां तो साईकिल लेकर मन बहलाने कहीं नहीं जा सकती थी। प्रिन्सीपल से आज्ञा जो नहीं ली थी। प्रिन्सीपल के स्थान पर टेलीफोन तो था किन्तु शीला की इच्छा आज्ञा लेने की न हुई। बाहर लड़कियां कह रही थीं—"आज मिसेज शर्मा अप्रसन्न हैं।" कौन जानता है यह अप्रसन्नता है अथवा दुःख?

बाहर

"तब फिर रात्रि पाठशालायें बन्द ही क्यों न कर दी जाएँ?" गर्ज कर शीला ने कहा। "यदि आप गरीब स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध दिन में नहीं कर सकते तो उन्हें रात्रि पाठशाला में पढ़ने का सुअवसर दीजिए और यदि वह भी नहीं कर सकते तो यह बराबरी तथा समानाधिकार का दावा ही छोड़ दीजिए।" शीला थक कर बैठ गई। प्रातः से ही उसने अन्न का मुख नहीं देखा था। कल काम समाप्त करने पर जब तीन बजे होस्टल पहुँची तो होस्टल की रसोई में उसका खाना रखा नहीं था। घर की माँ तो थी ही नहीं जो तुरन्त ही बना देती। वार्डन से कहने पर उसने कहा था—"मिसेज शर्मा, आप खाने के समय उपस्थित रहा करें अथवा मुझ से कह जाया करें, आपका भोजन रख दिया जाएगा।" असह्य थकान से शीला चूर चूर हो रही थी। बिचारी बारह बजे तक लेकचर देकर सभा का एकाऊण्ट देखने गई थी, उसका विचार था कि एक बजे तक लौट आ सकेगी, किन्तु आते आते तीन बज गये। भूख, निराशा और थकान से हिम्मत ही नहीं हुई कि नौकर को बुला कर कुछ बाजार से मँगा ले। वैसे ही बिस्तर पर पड़ी रही। उसकी इच्छा हो रही थी कि खूब रोऊँ किन्तु रोना भी नहीं आ रहा था। समय पर

आँसू भी साथी नहीं बनते, वह तो दूसरों के सम्मुख ही भेद खोलने पर तत्पर रहते हैं। अभी फिर पाँच बजे से शीला को सात बजे तक होस्टल में खेलों का निरीक्षण करना था। थके तन और चूर चूर शरीर से उठ कर शीला बेमन से खेल के मैदान में पहुंची। लड़कियों ने मुँह की तरफ देख कर कहा— "आज मिसेज शर्मा को क्या हो गया है?" किन्तु उसके मन की व्यथा भगवान ही समझ सकते थे, वह कालेज की नन्हीं छात्राएँ नहीं। सात बजते न बजते शीला सभा की बैठक में चली गई। सन्ध्या को भोजन बाहर ही करने का उसने निश्चय किया। काफी का एक प्याला पीकर कुछ स्वस्थ हुई। शीला ने प्रस्ताव किया कि अशिक्षित गरीब स्त्रियों के लिए भी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये।

किसी मनचले ने धीरे से अपने साथी से कहा—"बशर्ते वह अपने पति, पुत्र और घर को छोड़कर भाग न जाये।"

कहा शीला के कानों से बचा कर गया था, किन्तु शीला को यह समझते देर न लगी कि क्या कहा गया है? मन और भी भारी हो उठा। और लोगों ने भी शिष्टता से विरोध किया। कहा गया कि दिन में पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सभी व्यस्त रहती हैं और हम स्वयं भी तो या छात्र हैं या और कुछ काम करते हैं और रात्रि में उनका आना तथा जाना ठीक होगा नहीं।

शीला एकदम से चिढ़ उठी। आज तक कभी ऐसा अवसर नहीं आया था कि उसकी बात मानी न गई हो। इसी स्थान पर सदा ही वह जोरदार शब्दों में जिस भी प्रस्ताव का समर्थन करती थी, उसे कोई भी रोक न पाता था। तथा शीला एकबार जिस

प्रस्ताव का विरोध कर देती, कोई भी यत्न करके पास न करवा सकता था। उसी दावे के बल पर शीला ने अपने प्रस्ताव के विरोध का जोरदार शब्दों में विरोध किया। उसका मुख मानो धुयें से भर उठा था, किन्तु आज उस बैठक में न तो धीरेन्द्र ही था और न रवि ही। फिर भी शीला को विश्वास था, कि उसके शब्दों में शक्ति है। एक घंटे की गरमागरम बहस के पश्चात् निश्चय हुआ कि मिस बहल, सुरेश हांडा और लीला गुप्त मिलकर इस प्रस्ताव पर विचार करें। यदि प्रधाना चाहे तो वह उन्हें अपनी सम्मति पर सहमत कर सकती हैं। सब-कमेटी की रिपोर्ट के पश्चात् प्रस्ताव पर विचार किया जायेगा। शीला जल उठी, पर बहुमत उसके विरुद्ध था। उन्हें मिस बहल का ही प्रस्ताव अधिक पसन्द आया था। प्रातः से भूखी दुःखी शीला चिढ़ गई। उसने क्रोध से कहा—"यदि आप लोग हर अच्छे प्रस्ताव को इस प्रकार टाल दिया करेंगे, यह टालना नहीं तो और क्या है तो मैं अपने पद से त्याग पत्र देती हूं।"

"सो आपकी इच्छा है किन्तु आप बहुमत का निरादर न कर सकेंगी" सब ने कहा। मिस लीला गुप्त थर्ड ईयर की छात्रा उसकी ओर देखकर मुस्करा दी। शीला के सिर से पैर तक आग लग गई। उसे जान पड़ा लीला उसकी हंसी उड़ा रही है। अपनी दीनावस्था पर शीला को अत्यन्त लज्जा आई।

"आज यहीं तक, मिस बहल! प्रस्ताव की नकल कल आपकी सेवा में भेज दी जायेगी।" ज्यों त्यों किसी प्रकार कह कर शीला कमरे से बाहर निकल आई। कमरे से आती हुई हँसी की ध्वनि उसे अब भी सुनाई दे रही थी, किन्तु वह उसे अपनी ही हँसी की गई मालूम पड़ रही थी। बाहर आकर

देखा कि साढ़े आठ बज गये थे। लोग होटलों में भोजन कर रहे थे। शीला की इच्छा भोजन करने की हुई ही नहीं। होस्टल जाने को भी मन नहीं कर रहा था। मन में भयंकर अशान्ति छाई हुई थी। यही स्वतन्त्रता है जिस की खोज में मैं बालपन से ही रही किन्तु मिली कहाँ? मां की शीतल गोदी में नहीं, कालेज के शिक्षित वातावरणमें भी नहीं, पति की सुख सौभाग्यपूर्ण गृहस्थी में भी नहीं, कालेज की नौकरी में भी नहीं और सुधार-सभा के प्रधानत्व में भी नहीं। उसे स्वतन्त्रता कहां मिलेगी? इसी स्वतन्त्रता के पीछे तो उसने मां के निकट वर्षों से देखे सुने ठाकुर के ऊपर, भगवान् के ऊपर दृढ़ विश्वास को धो, पोंछ कर फेंक दिया था। ईश्वर को बहाकर ही तो वह स्वतन्त्र बनी थी, लेकिन मिला क्या? आज न जाने क्यों शीला की इच्छा हुई कि उस भगवान के श्रद्धा प्रेम और विश्वासपूर्ण साम्राज्य में फिर लौटकर ऋचा के समान ही अन्ध-विश्वासिनी बनकर, पत्थर के देवता की मूर्त्ति के चरणों में लोटकर कहे,—"ठाकुर मैंने तुम्हें भुला दिया, किन्तु तुमने भी मुझे भुला दिया। जाओ अब मैं तुम से बोलूंगी नहीं। क्या अपने जन के साथ यही व्यवहार उचित है?" उसका मन किसी से यह कहने को बड़ी जोर से मचलने लगा, किन्तु आज मनुष्य अथवा देवता, सृष्टि भर में कोई भी तो ऐसा नहीं है जिस पर वह यह दावा लेकर खड़ी हो सके। मां पर उसका यह दावा था, पिता पर था, पति पर था और था विश्वनियन्ता जगत पिता पर भी। किन्तु इस सब कुछ को बहाकर ही शीला आज खड़ी हुई थी, अब किस मुख से उस दावे को लेकर खड़ी हो जिसे एक दिन बलपूर्वक दूर दूर, खूब दूर ठेल चुकी। आज फिर उस दावे के

लिये शीला मचल उठी किन्तु अभिमान ने उसे इस बार भी उससे वञ्चित रखा।

भारी जी से यही सब कुछ सोचती हुई शीला अनजाने ही मिस गोरोवाला के द्वार तक पहुँच गई। सम्भवतः मन की वैसी अवस्था में शीला अन्दर तक जाने का साहस न कर सकती। इसी समय घूमने जाने के लिये मिस गोरोवाला अपनी भाभी के साथ निकली।

शीला को देख कर वह खिल उठी, पर शीला का मुख देखकर स्तम्भित हो गई। दौड़कर शीला का हाथ पकड़कर बोली—"आओ, अन्दर चलें, यहां क्यों खड़ी हैं मिसिज्ञ शर्मा ?" स्टाफभर में यही एक अध्यापिका थी जिसे शीला से सहानुभूति थी। शीला को भी इससे प्रेम था।

"भाभी तुम्हें जाना है तो चली जाओ, मेरी तो सखी आ गई है, मैं अब न जाऊँगी।" तीनों स्त्रियाँ भीतर आ गईं। मिस गोरोवाला ने शीला का हाथ पकड़ते ही समझ लिया था कि वह कांप रही है। धीरे से उसे एक सोफे पर बिठाकर स्वयं वह भी बैठ गई। भाभी इस अतिथि के लिये सत्कार करने का प्रबन्ध करने चली गईं।

"मिसिज्ञ शर्मा, आपकी तबियत कैसी है ?"

"बहुत ठीक, मेरा नाम शीला है।"

हँसकर मिस गोरोवाला ने कहा—"यह तो मैं जानती हूं, तब तुम्हें शीला ही कहूंगी, तुम मुझे रमा ही कहा करो ?"

"अच्छा" शीला को इस समय किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उसका सबसे अधिक अपना हो, किन्तु यह अशान्त, चिर अतृप्त वासना क्या मिस गोरोवाला को

अपना करने से तृप्त हो सकेगी ? जैसे तैसे शीला का वह दिन भी बीत गया। किन्तु सुबह सूर्योदय से पूर्व ही उसकी आंख खुल गई। भयंकर, सारे शरीर में होने वाली, पीड़ा ने उसे उस दिन उठने न दिया।

फिर वही

रवि शर्मा शीला के चले जाने के पश्चात चारों ओर के अपमानपूर्ण वातावरण से शीघ्र ही तंग आ गया। शीला से उसने क्षमा भी मांगी, पर वह क्षमा मिली नहीं। उसने अधिक चेष्टा भी नहीं की। यूरुप की सभ्यता के भक्त होने पर भी पुरुष अपने बड़प्पन के अधिकार को किसी मूल्य पर भी नहीं छोड़ता। संसार में अपना कहने योग्य तो कोई भी न था, कुछ भी न था। अतः कुछ दिनों तक निरुद्देश्य घूमते रहने पर भी जब रवि ऋचा को भुला नहीं सका, जिसका कि उसने कुछ यत्न भी नहीं किया था, तो वह अचानक एक दिन सत्येन्द्र की ओर चल पड़ा। घर पर मां ने गीली आँखों से सब कुछ सुना कर सत्येन्द्र का पता भी बता दिया। यह प्रार्थना भी की "रवि, तुम उसके सब से प्रिय मित्र हो, उसे कहना कि चाहे जो करे घर लौट आये। रूपेन्द्र की हँसी तो मानो उसके साथ ही चली गई है। घर मानो श्मशान हो रहा है। मैं अब कितने दिन की मेहमान हूं, मेरे सामने तो दोनों एक घर में रहें।"

शिखा ने आंसू भरी आंखों से कहा—"रवि भईया

ऋचा से कहना कि सत्य को घर ले आये।" रूप कुछ भी न कह सके। केवल गीली पलकों से जाते हुए रवि को देखते रहे। रवि का हृदय ईर्षा से जल रहा था। ऋचा सत्येन्द्र की सगी बहिन तो है नहीं, तब क्या रिची सत्येन्द्र को प्रेम करती है? अवश्य, तभी तो घर भर से विरोध करके उसके साथ ही चली गई। अभागी, कुलकलंकिनी। किन्तु स्वयं जो कुछ मन में लेकर रवि ऋचा के पास जा रहा था, उसे स्मरण करके इस युवक को किसी दिन भी लज्जा नहीं, क्षोभ नहीं हुआ।

इस बार रवि प्रसन्न-चित्त, स्वच्छ हृदय से सत्येन्द्र से मिल नहीं सका। ऋचा का साधारण व्यवहार भी उसे पक्षपातपूर्ण दीखने लगा।

घरवालों के सन्देश सुनकर सत्येन्द्र हंस भर दिया। उसे ज्ञात था कि चमारों के ग्राम में उन्हीं की तरह बस जाने के पश्चात् मां की रसोई में उसके लिये भले ही स्थान निकल आये, लेकिन गांव में कहीं भी ऋचा के लिये गज भर जगह न मिलेगी। ब्राह्मणी से वह चमारी जो हो गई है। यद्यपि वह किसी का बनाया भोजन खाती नहीं, पर सत्येन्द्र की आज्ञा से चमारियों को रसोई में जाने से मना भी तो नहीं कर पाती। प्रसन्न-मुख से उसकी रिची ने सदा मानना ही सीखा था, और अब भी मान ही रही थी। उस दिन रवि को भोजन में अपूर्व स्वाद मिला। राजसी ठाठ नहीं था, दही बड़े भी नहीं थे। सरसों के साग के साथ मक्की की रोटियाँ कितने प्रेम से सत्येन्द्र खा रहा है, यही उसके लिये आश्चर्य था। बीच बीच में साग की प्रशंसा भी करता जाता है और लस्सी का घूंट भी भरता जाता है। यह होटल का स्वादिष्ट भोजन तो है नहीं, और

वही युवक पूंजीपति कहलाता है। अज्ञात श्रद्धा से रवि भर उठा। इन्हीं दो वर्ष के बीच में बढ़ियाल गांव में विचित्र परिवर्तन हो गया था। यह गांव सत्येन्द्र की ही जिमीन्दारी में था। इससे पूर्व भी सैर के लिये रवि यहां अनेक बार आया था, किन्तु इस बार शोभा ही न्यारी थी। पहले यह चमारों का गांव सत्येन्द्र की जिमीन्दारी का सब से दरिद्र और गन्दा गाँव था। बीमारियों की भी हद न थी, अब चारों ओर स्वच्छता का राज्य था। सत्येन्द्र ने ढेर सारे रुपये खर्च नहीं किये थे। पिछले बसंत भर वह इन्हीं चमार साथियों को लेकर प्रतिदिन चार पांच घण्टे लगकर सड़कों और खेतों के कूड़े-करकट को साफ करता था। कीचड़-कूड़ा और गन्द हटा देने के पश्चात् सत्येन्द्र ने कुछ रास्ते बना दिये थे। उन पर इधर उधर से एकत्रित कर कंकड़ फैलाकर कूट दिये थे। धरती बहुत सारी निकल आई थी। यही धरती पहले कूड़ा करकट का आश्रय स्थान थी। नये तरीके से इसी मिट्टी में सत्येन्द्र ने विदेश से मंगाकर आलू, गोभी, शलजम और टमाटर बोये थे। पिछली फसल भी बहुत अधिक हुई थी। रात्रि के समय सत्येन्द्र दो घण्टे उन्हीं लोगों को पढ़ाता, लिखाता भी था। स्त्रियों और बच्चों की शिक्षा का भार ऋचा पर था। इसके अतिरिक्त रोगियों की चिकित्सा, परिचर्य्या आदि का भार ऋचा ने ही लिया हुआ था। सत्येन्द्र को मजदूरी ही से समय न मिलता था। पर ऋचा इस सब काम के अतिरिक्त भोजन भी स्वयं बनाती थी। उससे चमारों का भोजन नहीं खाया जायेगा, उसका विचार था। सत्येन्द्र देखकर भी हँस भर देता था, भोजन ऋचा की ही रसोई में करता था। अभी दो ही तो वर्ष हुये थे, पर इसी

बीच में गांव की अवस्था सुधार कर, ग्रामवासियों के घृणित जीवन को बदलकर सत्येन्द्र ने अपनी एक और स्कीम तैय्यार कर ली थी। वह इन्हीं में से किसी युवक को अंग्रेजी पढ़ाकर आस्ट्रेलिया और अमेरिका की खेती के नये साधन सीखने भेजना चाहता था। इसका उद्योग भी आरम्भ हो गया था। गंगू एक अनाथ लड़का था। वह उसी विधवा चमारी का लड़का था जो अकाल में ही हैजे से मर गई थी। इसी दस साल के लड़के को लेकर सत्येन्द्र ने शिक्षा देना आरम्भ किया था। तीव्र बुद्धि बालक विद्या अत्यन्त कुशलता से ग्रहण कर रहा था। पिछले दो वर्ष में उसने अंग्रेजी की कई प्रारम्भिक पोथियां पढ़ लो थीं। सत्येन्द्र किसी के पूछने पर कहा करता था, यह मेरा छोटा भाई है। ऋचा को भी उस चमारी पुत्र पर घृणा न थी। ऋचा की भी इच्छा थी कि यहां एक स्त्रियों के लिये शिल्पकारी पाठशाला आरम्भ की जाये। उसमें केवल दरिद्र स्त्रियों को ही शिक्षा मिले और फिर उन्हीं से काम लिया जाये। दर्जी, लोहार, सुनार, जुलाहे, हलवाई आदि सारे ही कामों की शिक्षा के अतिरिक्त चित्रकला, संगीत, पाकविज्ञान तथा साहित्य की भी शिक्षा दी जाये, किन्तु शुल्क कुछ भी न हो। प्रवेश अवश्य केवल दीन-हीन नारियों के ही लिये हो और उनसे बचने पर स्थान औरों को भी दिया जा सकेगा। किन्तु उन्हें भी इसी तरह सादा जीवन बिताना होगा। मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा के लिये भी प्रबन्ध होगा और साधारण शारीरिक व्यायाम आदि के लिये भी। गांव में जगह की कमी न थी किन्तु पाठशाला के लिये कुछ आधुनिक मशीनों आदि की आवश्यकता थी। श्यामसुन्दरी ने

रूपेन्द्र से कहकर दस हजार रुपया इस संस्था के लिये दिया था। किन्तु अभी उद्योग हो ही रहा था। ऋचा ही सत्येन्द्र की सहायता से सारा प्रबन्ध कर रही थी। रवि यह सब कुछ देख कर चकित रह गया। ऋचा की इस अद्भुत कार्यकारिणी शक्ति का उसे ज्ञान ही न था। अब भी वह भूले भटके ऋचा की शीला से तुलना कर बैठता था, किन्तु पृथिवी आकाश का अन्तर था। रवि के आजाने से ऋचा को बहुत सहायता मिलने लगी। सत्येन्द्र के अनुरोध पर रवि ने भी वहीं रहकर काम करने का निश्चय किया। इस बार रवि के दर्शनों से ऋचा को कोई मानसिक अशान्ति नहीं हुई। अब वह पुरानी ऋचा न थी। मनुष्य के अर्थ अर्पित की हुई वस्तु कोई भले ही जुठला ले किन्तु जो नैवेद्य पवित्रता से देवता को अर्पित किया जा चुका है उसे जुठलाना तो दूर, उस पर क्या कोई दृष्टि भी डाल सकता है? यही अन्धविश्वासी ऋचा का विश्वास था। पहले उसने अपना सब कुछ विनय के चरणों में अर्पित किया हुआ था, तभी उसे उस दिन रवि को देखकर भय हुआ था कि कहीं विनय की वस्तु पर रवि की दृष्टि न पड़ जाये। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास न था। उसे भय था कि कदाचित् वह उस वस्तु की अपनी दुर्बलता के कारण रक्षा न कर सके किन्तु अब तो वह बात थी नहीं। अब जो नैवेद्य भगवान के श्री चरणों में चढ़ाया जा चुका है, उसकी रक्षा स्वयं नारायण करेंगे। यही उसका विश्वास था और जिस की रक्षा स्वयं विश्वेश्वर कर रहे हैं। उसे भय कैसा, और चिन्ता कैसी? सर्वस्व एक दृढ़ शक्तिशाली व्यक्ति को सौंप कर ऋचा निश्चिन्त हो गई थी। तनिक भी दुर्बलता या भय देख कर वह सोच लेती

है—जिन की वस्तु है वही स्वयं रक्षा करेंगे। सब कुछ दे लेकर उसने हिसाब साफ कर दिया है। अब तो उसने प्रसाद में मां अन्नपूर्णा गौरी से उनका सर्वोच्च अंश मातृत्व ही पाया है। उसे भास होता है कि वह माता है और संसार भर के व्यक्ति आंचल फैलाकर उसके चरण छू रहे हैं। वह ममतामयी मां है ना ? विधवा की करुणामयी दीनता उसे कब की छोड़ चुकी है। भला जो स्वयं परमेश्वर को अपना स्वामी, पति मान बैठी हो उसे विधवा होने का भय कैसा ? वह तो सदा ही सौभाग्यवती है। उसका शृंगार भी कैसा ? उसका पति तो वस्त्रों के भीतर, शरीर के भी भीतर घुसकर उसकी अन्तरात्मा तक की कुरूपता देखता है, फिर कृत्रिम शृंगार कैसा ? अतः इस बार ऋचा को अपनी रक्षा के लिये कहीं भागकर कवच धारण करने की आवश्यकता नहीं हुई। वरन् नई सन्तान पाकर मां को प्रसन्नता ही हुई। संसार के कार्य निर्विघ्न चलते ही रहे। सत्येन्द्र को इधर ध्यान देने का अवकाश ही कहां था ?

उधर रवि की वासना ऋचा का तेजस्वी मुखड़ा देखकर दिनों दिन बढ़ने ही लगी। उसकी इच्छा होती कि एकान्त में जब वह किसी रोगी के सिरहाने खड़ी देवी मूर्ति सी दवा बनाती है तो उसे जोर से अङ्क में भर ....किन्तु समय उपस्थित होने पर रवि शर्मा को ऋचा का तेज पूर्ण मुख एक जलती हुई भट्टी सा दीखने लगता, दो लाल लाल होंठ तप्त अंगारे दीखने लगते और वह सहम जाता। किन्तु वासना का अन्त नहीं होता, वरन् बढ़ती ही जाती है। इस तरह सहम जाना रवि को मानो अपनी हार सी लगती है, वह स्वयं अपना उपहास सा करता प्रतीत होता है। वह भी ज़िद सी करने

लगता है। पुरुष के पाशविक भाव जाग्रत हो उठते—"ओह! मैं इस दुर्बल विधवा नारी से डर गया, कैसा मूर्ख हूँ भला मैं भी, नहीं, नहीं, इस नारी को परास्त करना ही होगा। वह मुझे प्रेम करती थी, एक दिन उसने मुझे प्रेम किया था। शायद आज भी करती है, मैं उसे छोड़ूगा नहीं, कदापि भी नहीं, कभी नहीं। वह मेरी है, वह मेरी है। इसी के लिये मैंने स्नेहमयी शीला को छोड़ा है, वह मेरी है, सत्येन्द्र की नहीं।" ईर्षा उसे और भी उकसाती, बढ़ावा देती और वह फिर उन्हीं विचारों में लिप्त हो जाता।।

हृदय की अशान्ति रवि के शरीर को भी कृश करे डाल रही थी। तेजस्वी शरीर मानो ढांचा मात्र रह जाना चाहता था। चिन्ता से उसका मुखमण्डल भी उदास रहता था।

कभी कभी सत्येन्द्र कहता—"रवि, यहां का जलवायु तुम्हें ठीक नहीं पड़ता शायद। बहुत दुर्बल होते जा रहे हो। न हो भाई कुछ दिनों के लिए कहीं घूम-फिर आओ।" हँस कर रवि सहज सा उत्तर देता—"और मेरा ठिकाना ही कहाँ है भाई, यहां ठीक नहीं रहूँगा तो शायद सृष्टि में कहीं भी न रह सकूँगा। तुम चिन्ता न करो, मैं बहुत स्वस्थ हूँ। मोटे होने का नाम तो स्वास्थ्य नहीं।" और हँस पड़ता।

रवि के स्वभाव को जानने वाला सत्येन्द्र चुप हो जाता और फिर वैसे ही काम चलने लगते।

कभी ऋचा कह देती— "रवि भईया! तुम इतने चिन्तित क्यों रहते हो, भला शीला भाभी को बुला क्यों नहीं लेते? न होगा मैं ही अब की समय निकाल कर लिवा लाऊँगी।" शीला कहां है यह भी ऋचा को पता न था।

रवि कई बार, ऋचा को 'रवि भईया' कहने को मना कर चुका था, पर ऋचा हँसकर कहती—"फिर क्या कहूँ ?"

रवि मन ही मन कहता—"कहो प्रियतम !" पर ऊपर से कहता—"कुछ भी नहीं, केवल रवि, रवि मेरा नाम है !"

"वाह ! ऐसा भी कहीं होता है ?" कह कर ऋचा हँस पड़ती। अब तो वह वही निरीह भोली सरला सात वर्ष पूर्व की 'रिची' है ना।

ऋचा के कहने पर रवि कहता—"क्यों, क्या मेरा भार अब तुमसे सम्भाला नहीं जाता रिची ? कह दो तो मैं अपना बोरिया बिस्तर लेकर किसी पेड़ के तले पड़ रहूँ !"

ऋचा हँस कर कोई काम करने चल देती। यह इतना बड़ा पुत्र उसे बहुत भला मालूम पड़ता। शीला को मना लाने की बात भी वह बहुत बार सोचती थी, किन्तु जिस स्त्री ने सारे विश्व को सन्तान मान लिया हो, उसके लिए करने योग्य कार्य इतने अधिक हो जाते हैं कि अनेकों सन्तानों के बीच किसी एक लिए विशेष समय निकालना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। वह इच्छा होते हुए भी समय निकाल ही नहीं पाती थी, केवल सोच ही भर लेती थी। रवि ने शीला के विषय में सोचना भी छोड़ दिया था, सोचता था—

"चलो अच्छा ही हुआ, छुट्टी हुई। मैं स्वतन्त्र तो हुआ।" लेकिन यह स्वतन्त्रता कैसी भयंकर थी, सो भगवान ही जान सकते हैं।

मातृत्व

"ऋची बहिन अब तू बच्चा नहीं है। पति का आदेश, अनुरोध मृत्यु शय्या पर पड़े हुये किया गया तेरे सामने अक्षर अक्षर रख चुका हूँ। आज चार-पांच वर्षों से इसी समस्या में उलझा हुआ था। तेरी भी युवावस्था है, यही सोच आज तुझे बता दिया। अब लज्जा छोड़कर बहिन अपने विचार बता। इस समय लड़का भी अच्छा हाथ में है।"

ऋचा सिर झुकाये शान्ति पूर्वक सुनती रही। पति के पुनर्विवाह सम्बन्धी आदेश भी सुने। कुछ देर तक विचार कर उसने मन ही मन मृत पति को श्रद्धा से प्रणाम करके कहा—"भईया, तुम महान हो, तभी तुम्हें इस दुःखिया का इतना विचार है, किन्तु जो आज चार पांच बरसात इसी तरह पार करके सृष्टि में रह रही है, उसे कुछ और वर्ष पार करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी, तुम निश्चिन्त रहो।"

"पर बहिन, सृष्टि के कठोर नियम सद्भावनायें नहीं देखते।"

ऋचा एकदम कठोर होकर सीधी खड़ी हो गई। "भईया, नारी की सृष्टि केवल विलास की वस्तु बनने को ही नहीं हुई है। वह जन्म से ही माता है और कुछ भी नहीं। उसका चरम उद्देश्य, उसके उद्देश्य की सर्वोच्च पूर्ति पत्नी बनकर नहीं, रमणी बनकर भी नहीं, यदि कहीं होती है तो माता बनकर ही।

तुम्हारे इन्हीं चरणों के निकट बैठकर जो सोलह वर्ष तक शिक्षा पाई है, वह सहज ही भूल न सकूँगी। जो माता है, जो जननी बन चुकी है उसे नारित्व की चरम सीमा तक पहुँचने के लिये रमणी रूप के विकास के लिये फिर से पत्नी बनकर विलास की; वासना की आराधना करनी न पड़ेगी भईया। मैंने सब ही कुछ देखा, वह भी और यह भी, किन्तु जो सुख, जो शान्ति, जो गौरव आज माता बनकर प्राप्त किया, वह न पत्नी बनकर पाया, और न बहू बनकर। इस थोड़े से पर अतुल गौरव को मुझसे छीन कर मुझे दीन न बनाओ। यह देवता का नैवेद्य है, इसे स्पर्श करवा के मानव द्वारा पाप के भागी न बनो। स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य करके मैंने अपने आप को समर्पित कर दिया है किन्तु वह समर्पण इतना महान है कि अब लौटाया नहीं जा सकता। तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य है किन्तु यह आज्ञा फिर न करना भईया, यही प्रार्थना है।"

ऋचा तेजी से एक ही सांस में सब कुछ कहकर तुरन्त ही चली गई।

सत्येन्द्र ने भी आज अपनी इस छोटी बहिन को जो सदा ही खेल में मार ही खाती रही है, रोती रही और फिर भी मार खाती रही, सम्पूर्ण हृदय से भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। वास्तव में उसने अपने आप से कहा—सचमुच ही नारी का आदरणीय रूप है मातृरूप। अपनी सन्तान की ही नहीं, वरन् जगत भर की सन्तानों की माता बनना और वह मातृत्व नारी में सदा ही छिपा हुआ रहता है। वह सन्तान को जन्म दिये बिना भी माता है। यह नन्हीं सी बालिका प्रसव वेदना सहे बिना भी जगद् जननी है। कौन मां इससे अधिक सुखी, अधिक

सौभाग्य शालिनी होगी। सन्तान की सेवा ही इस मां का कर्त्तव्य है, इसे प्रतिदान की इच्छा नहीं और आवश्यकता भी नहीं। जो स्वयं ही पूर्ण है, विकसित है उसे और क्या चाहिए? सचमुच ही उसकी इच्छा हुई कि शची के दोनों चरण पकड़ कर एक बार कह उठे—"मां, तुम वास्तव में जगन्माता हो, अन्नपूर्णा हो, तुम्हारी सन्तान मां को विवाह करने का प्रश्न उठाकर सुखी कर सके, ऐसी सामर्थ्य उसमें कहां? उसे क्षमा करो मां।" सत्येन्द्र की आँखों में श्रद्धाश्रु भर आये, किन्तु उसने उन्हें पोंछा नहीं, शायद बहकर स्वयं ही वह मां के शुभ्र चरणों तक पहुँच जायें, यही उसकी अभिलाषा थी। हो सकता है यह केवल मात्र संस्कारवश उत्पन्न अन्ध श्रद्धा ही हो अथवा हो अन्धविश्वास, किन्तु यह सुन्दर है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

फिर

"किन्तु इसमें मैंने कौन सा अपराध किया रमा?"

"अपराध था सो तो मैं नहीं कहती। किन्तु कहती हूँ कि तुमने अच्छा नहीं किया।"

"मैंने क्या बुरा किया सो तो सुनाओ रमा।"

"तुम्हें प्रिन्सिपल का संकेत समझना चाहिये था शीला? तुम्हें मिस नागपाल के विरुद्ध रिपोर्ट नहीं देनी चाहिये थी।"

" भला क्यों ?" आश्चर्य से शीला ने पूछा।

" तुम नहीं जानती सरला, नागपाल वाइस प्रेजिडेण्ट की भतीजी है।"

" पर इससे क्या ?"

" अरे, इसी से तो सब कुछ है। अब वह तुम्हारे पीछे पड़ जायेगा। बड़ा ही लीचड़ आदमी है।"

" किन्तु इससे क्या ? मेरा उद्देश्य उसे प्रसन्न रखना तो है ही नहीं। मेरा तो जो काम है सो मैं ठीक कर ही रही हूँ और जब मुझे ड्रामेटिक सोसायटी का चार्ज दिया गया है, तब फिर यदि मेरी सहायिका ठीक काम न करें तो उसकी रिपोर्ट देना भी मेरा कर्त्तव्य है।"

" कर्त्तव्य की बात यहां नहीं होती शीला, यहां तो समय निकालना होता है।"

" यह तो अन्धेर हुआ।"

" हां, सो तो है ही। फिर भी इसका कोई उपाय नहीं है। अब तुम स्वयं ही अनुभव कर लोगी कि ये लोग तुम्हें किस प्रकार तंग करेंगे। और तो क्या, तुम्हारी छात्राओं को भी तुम्हारे विरुद्ध शिक्षा दी जायेगी। तुम्हारा इस कालेज में रहना असम्भव हो जायेगा।"

" इसका और कोई उपाय नहीं ?"

" उपाय केवल यही है कि मिस नागपाल को प्रसन्न कर लो, अपनी रिपोर्ट वापिस ले लो, और बस।"

" सो तो मैं कभी भी न कर सकूंगी।"

" तब करोगी क्या ?"

" त्याग-पत्र दे दूँगी।"

"ऐसा करने से क्या बनेगा? बहिन! जहाँ कहीं जाओगी वहीं थोड़े बहुत ऐसे काँटे तो मिलेंगे ही। इनका उपाय न तुम कर सकोगी और न मैं। समाज के बिगड़े हुए अङ्गों का सुधार हमारा तुम्हारा काम नहीं। हमें तो समाज के रङ्ग-ढङ्ग चुपचाप रह कर देखने ही होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय ही क्या है?" दुःखित होकर रमा ने कहा।

"उपाय हो या न हो, मैं तो यह अत्याचार न सह सकूँगी।" शीला ने दृढ़ता से कहा।

"तब फिर करोगी क्या?"

"शायद शहर का दूषित वातावरण छोड़ कर किसी ग्राम में छोटी सी पाठशाला में नौकरी करके देखूँगी कि वहां भी स्वतन्त्रता, सत्य और न्याय मिलता है अथवा नहीं?" स्वर में निराशा भरी हुई थी।

"और यदि वहाँ भी यह सब कुछ न मिला तो?"

"तो गले में पत्थर बाँध कर नदी के अथाह जल में डूब कर मर जाने से तो कोई रोक न सकेगा।" मरने के विचार ने उसे विमला के अन्तिम वाक्य याद दिला दिये।

"चलो अच्छा ही है, तब वह आकर मन भर कर रो भी सकेगी, अच्छा ही होगा।" मन ही मन कह कर शीला ने मरने की कल्पना करके एक अपूर्व सुख का अनुभव किया। उससे उसे अतीव शान्ति मिली।

रमा की कुछ कहने की प्रवृत्ति तो हुई पर साहस न हुआ।

शीला की भी फिर बातचीत करने की इच्छा नहीं थी। साईकिल उठा कर आज वह पूरे नौ मास बाद घर की ओर चल पड़ी। मां ने शीला को अत्यन्त प्रेम से ग्रहण किया। शीला

का पुराना कमरा वैसा ही सजा था। उस कमरे में बैठकर शीला घण्टों रोती रही। स्वस्थ होकर उसने अपना त्याग-पत्र तुरन्त ही पोस्ट द्वारा भेज दिया। इतना कर चुकने पर शीला का मन शान्त हो गया। पराधीनता की भयङ्कर वायु, जो उसका दम घोट रही थी, चली गई। एक बार फिर उसने अपनी समझ से स्वतन्त्र वायु में सांस ली। वह अभी तक हारी नहीं थी, थकी भी नहीं थी, हिम्मत से वीरतापूर्वक सामना करती ही जा रही थी।

फिर नौकरी

"बेटा! तुझे ऐसी कौन सी कमी है जो नौकरी की बात सोचती है। हम कौन से सदा बैठे रहेंगे? सब कुछ तो तेरा ही है। एक भाई है उसे पाल पोस कर बड़ा बना, नौकरी में क्या धरा है?" मां ने दीनता से कहा।

"मां! एक बार तो नौकरी छोड़ कर तुम्हारे चरणों में आ ही गई थी, फिर एक बार जाने दो। इस बार ग्राम्य जीवन का भी अनुभव हो जायेगा। कहीं स्थान न पाने पर आखिर तुम्हारी गोदी तो है ही। वहां से तो कोई निकाल सकेगा नहीं माँ?"

इस बार शीला की सचमुच इच्छा मां को छोड़कर कहीं जाने की नहीं होती थी, पर अपने आदेश को इतनी जल्दी विदा करके हार मान लेना भी उसे उचित प्रतीत नहीं होता था।

इसीलिए उसने अभी हाल ही में एक समाचार पत्र में विज्ञापन देख कर किसी ग्राम की एक संस्था में अध्यापिका पद के लिए आवेदन पत्र भेज दिया था। सौभाग्य से नौकरी भी मिल गई। अब शीला को माता पिता पर भार ही बने रहना उचित प्रतीत न हुआ, अतः उसने माता की सम्मति चाही। ज्यों त्यों माँ की आज्ञा, पिता का आशीर्वाद ले शीला एक दिन चिर परिचित कमरे को छोड़ कर जाने लगी। जाते समय वह सोच रही थी देखो इसका परिणाम क्या होता है? फिर किस तरह इस कमरे में लौट आना पड़ता है? इस बार स्वतन्त्रता पाने का हर्ष न था, वरन् आशङ्का से हृदय बुरी तरह धड़क रहा था। मन का एक अज्ञात भय उसके सारे शरीर को कँपा रहा था। एक बार असफल होकर फिर सम्भवतः सफलता की कल्पना भी भयावनी हो उठती है।

शीला का समस्त व्यक्तित्व ही मानो उससे चिल्ला चिल्ला कर कह रहा था—"ओ स्वतन्त्रता की खोज में दीवानी नारी! स्वतन्त्रता कहां? वह तो यहां भी नहीं और वहां भी नहीं।" फिर भी शीला शान्त ही थी।

"शीला जी! इधर किधर चलीं?" सिर घुमाते ही ट्रेन के दूसरे बर्थ पर शीला ने विमला का परिचित मुख देखा। शीला अचानक ही विमला के गले से लिपट गई—

"विमला! तू तो मुझ से मिलने आई नहीं, किन्तु हम अचानक ही मिल गये। चल मरने का समाचार सुनने से पूर्व ही का यह मिलन कुछ अधिक कठोर न होगा।"

विमला हँसकर बोली—"सुना है कालेज छोड़ दिया, चलो अच्छा ही हुआ। अब किधर स्वतन्त्रता की खोज की जायेगी?"

"कहीं जा रही हूँ।" मन ही मन तड़फ कर शीला ने कहा। विमला का उत्तर उसकी नस-नस में छिद गया था। कठिनाई से उसने आँसू रोके।

"कहां ?"

"ग्राम की एक पाठशाला में नौकरी करने।"

"किस गांव की, इधर तो कोई ऐसी पाठशाला है नहीं ?" आश्चर्य से विमला ने कहा।

"बढ़ियाल में कोई 'भारतीय-शिक्षा-उद्यान' नामक पाठशाला है, वहीं शिक्षा विभाग में केवल आवश्यकताओं की पूर्ति पर काम करने जा रही हूं; वेतन तो वह लोग देते ही नहीं, कोई आदर्श संस्था है। यह भी एक एक्सपेरिमेण्ट ही होगा विमला ? तेरे गाँव के तो पास ही है, तू शायद कुछ जानती हो ?" शीला ने उत्सुकता से पूछा।

"हां, मैं सब कुछ जानती हूँ। वह तो आदर्श संस्था है। ऋचा भी वहीं काम करती है।" धीरे धीरे विमला ने कहा।

"तब तो बड़ा ही अच्छा होगा। ऋची के पास रह कर मैं भी शायद कुछ सीख सकूं।"

"हां, किन्तु शीला, वह संस्था तो तेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है। वह तो ईश्वर पर विश्वास करते हैं, आस्तिक हैं और तू है घोर नास्तिक। भगवान पर तेरा रत्ती भर भी विश्वास नहीं। यही सोच रही हूँ कि उनकी प्रार्थना में तू कैसे सम्मिलित होगी ?" कुछ चिन्ता के स्वर में विमला कह गई।

"चिन्ता न करो विमला। जीवन के दुःख और कष्टों

को सह-सह कर दुर्बल हुये मेरे मन को भी एक ईश्वर जैसे ही काल्पनिक व्यक्ति की आवश्यकता है जिस का सहारा लेकर एक बार जांच देखूँ, शायद कुछ लाभ ही हो जाय।" शीला का दर्पपूर्ण स्वभाव यह मान ही न सका कि उसे सचमुच ही श्रद्धा के एक स्थिर-पात्र की आवश्यकता है जो दुःख में सहारा देकर उसका उद्धार करे। विमला ने मन ही मन शीला की दुर्बलता पर हंस कर कहा—"जगदीश्वर तुम धन्य हो, कब किस को क्या खेल खिलाते हो, यह मुझ जैसी मूर्ख स्त्री तो क्या समझ सकेगी? संसार के सर्वोत्तम विद्वान भी कदाचित ही जान सकें।"

प्रकट रूप से शीला से विमला बोली—"तब तो ठीक ही है, तेरा मन भी लग जायेगा। ग्राम भी बहुत ही सुन्दर है। सत्येन्द्र ने स्वयं सजा-सुजा के अत्यन्त सुन्दर बना डाला है। तुझे बहुत अच्छा लगेगा।"

अनजाने ही वह सत्येन्द्र की ही ओर बढ़ रही है, यह जानकर शीला का हृदय प्रसन्नता से भर उठा किन्तु रवि भी वहीं है वह जान बूझकर विमला ने शीला से नहीं कहा, शायद भय से और शायद अनिच्छा से। शीला सत्येन्द्र को उपस्थिति में अपनी समस्त शक्ति से उसे कार्य करके चकित कर देने की बात सोचने लगी। यह उसके जीवन का नवीन, रोमान्स होगा, जिस की कल्पना भी शीला को अत्यन्त भली मालूम दी। विमला की छोटी लड़की को घुटनों पर बिठाकर शीला ने खूब प्यार किया, बातें भी कीं और हंसी भी। सत्येन्द्र को जीतने की उसकी इच्छा सदैव ही रही थी। कालेज के आरम्भिक दिनों में सत्येन्द्र उसकी ओर आकर्षित भी हुआ था। उसका

व्यवहार साधारण था किन्तु प्रत्येक कार्य्य से शीला के प्रति अतुल श्रद्धा ज्ञात होती थी, फिर न जाने क्यों यकायक उसने सत्येन्द्र की ओर ध्यान ही देना छोड़ दिया और फिर बस। इसी सत्येन्द्र के साथ उसके विवाह की बात हुई थी। 'यदि यह विवाह हो जाता ……' कल्पना शीला को बड़ी मीठी जान पड़ी।

विमला सोच रही थी मानव स्वभाव भी विचित्र है। कल तक जो लड़की पाउडर के बिना स्नान नहीं कर सकती थी, देवमन्दिर और देवभक्ति केवल कपोल कल्पित ही मानती थी, आज सहर्ष देवस्थान पर आ रही है, प्रसन्नता से, ज़बरदस्ती से नहीं—स्वेच्छा से। यही मानव-जीवन के परिवर्तन का विचित्र खेल है, इसमें न कहीं विराम है न कहीं अगति। सदा एक सा ही चलता रहता है, ठहरता भी नहीं, रुकता भी नहीं, सदा चक्र रूप में चलता ही रहता है। किन्तु विमला ने अपनी सखी शीला के लिये भगवान से मन ही मन प्रार्थना की कि "हे जगत के स्वामी! शीला का इसी दिशा में शुभ तथा स्थायी परिवर्तन हो। अधिक देर तक अनाथा और अनाश्रया होकर इसे स्वतन्त्रता की खोज में मारा मारा न फिरना पड़े, ऐसा ही करना। ऋचा का जीवन शीला के जीवन के लिये आदर्श बन जाये। जगत के सर्वश्रेष्ठ विश्वास को लेकर ही यह इस लौकिक जीवन को गुज़ार दे। यही करना, ऐसा ही करना, इसी से इसकी गति होगी।"

———

आकर्षण

चुम्बक लोहे को आकर्षित करता है, अपने से चिपटाता भी है किन्तु उसे उस कसक का, उस मीठी वेदना का ज्ञान नहीं होता जिसे बिरह कहते हैं। शीला ने अपने आपको आकर्षित होते हुए भी पाया था और खिचते हुये भी, किन्तु उस चिपटने के और आकर्षण के बीच में भी कोई मीठा रोमान्स है, कोई कसक है, कोई वेदना है, यह उसे आज दिन तक मालूम ही न था। ऋचा की आदर्श संस्था में जाकर शीला को प्रेम भी मिला और सहानुभूति भी। यहां प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार का सदस्य था। यहां किसी को किसी के प्रति घृणा भी भी न थी और अधिकार गर्व भी नहीं। यहां कोई प्रिन्सीपल भी नहीं थी और कोई असिस्टेन्ट टीचर भी नहीं। सब का ध्येय केवल छात्राओं की भलाई पर ही था। ऋचा को शिक्षा-विभाग के अतिरिक्त शिल्प, पाकविज्ञान आदि विभागों का निरीक्षण भी करना पड़ता था। एक ही वर्ष के अन्दर छात्राओं की संख्या लगभग ३०० तक जा पहुँची। यहां शुल्क तो था ही नहीं, अन्य कोई व्यय भी नहीं था। मिलता था अच्छा भोजन, साधारण वस्त्र, अतुलित प्यार, शिक्षा, सुगुण और सब से अधिक शारीरिक और मानसिक तथा आध्यात्मिक बल। फिर भला धन-हीन व्यक्तियों को अपनी बच्चियाँ भेजने को इससे अच्छा स्थान और कहां मिलता? आवश्यकतानुसार प्रत्येक

काम की मजदूरी भी शिक्षा-विभाग के अतिरिक्त, अन्य सब विभागों में दी जाती थी। यहां की तैय्यार की हुई वस्तुयें नगर के बाजार में सस्ते और निश्चित मूल्य पर बिकती थीं। रवि स्वयं उनका प्रबन्ध करता था। सत्येन्द्र भी कभी-कभी सहायता कर देता था, किन्तु उसका अधिकतर ध्यान खेती बाड़ी की ही ओर था। यहां की वस्तुयें इतनी सस्ती और अच्छी थीं कि शीघ्र ही नगर में उनकी मांग भी बढ़ने लगी। इधर संस्था में छात्राओं की संख्या भी बढ़ने लगी। शिल्प-विभाग में तो बालिकाओं के अतिरिक्त बड़ी आयु की स्त्रियां भी थीं।

शिक्षा-विभाग में शीला के अतिरिक्त चार अन्य महिलायें थीं, सब ही एम० ए० थीं। एक वृद्ध शास्त्री भी थे। स्वयं ऋचा भी दो घंटे संस्कृत, हिन्दी आदि विषय पढ़ाती थी। साधारण स्कूलों कालेजों की भांति वहां कक्षायें न थीं। गणित में दसवीं की योग्यता वाली कन्या को जबरदस्ती अंग्रेजी में आठवीं की योग्यता होने से ही आठवीं के साथ गणित भी नहीं सीखना पड़ता था। जिस विषय में जिसकी जितनी योग्यता हो, उसे उस विषय की उस कक्षा में जाना होता था। प्रत्येक विषय की चार कक्षायें होती थीं—प्रथम या आरम्भिक कक्षा, मध्य, उच्च और सर्वोच्च। अंग्रेजी में मध्य कक्षा में पढ़ने वाली कन्या इतिहास में योग्यतानुसार सर्वोच्च कक्षा में भी हो सकती थी। इस प्रकार की कक्षाओं से पूर्व एक चार कक्षाओं की छोटी पाठशाला थी। यहां पहले छात्र-छात्राओं को विशेष विषय पाठ के योग्य बनाया जाता था। छोटी कक्षा के सब विद्यार्थियों को गणित, संस्कृत, भूगोल, इतिहास और दस्तकारी अवश्य सीखनी पड़ती थी। इनके अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी

भी पढ़ाई जाती थी। शीला यहीं कालेज-विभाग में राजनीति पढ़ाती थी। उसने आज तक यही नहीं जाना था कि प्रिन्सीपल कौन है ? अथवा स्वयं भी सब अध्यापिकाओं को बहिन करके बुलाती थी और उसे भी सब बहिन ही कहती थीं। छात्रायें भी अध्यापिकाओं को बहिन कहकर ही जानती थीं। छः मास के लम्बे अरसे में शीला को न तो कभी बालिकाओं को ही प्रसन्न करना पड़ा और न अधिकारियों को ही। अधिकारी कौन थे ? यह ज्ञान भी उसे नहीं हो सका। खाने कपड़े के अतिरिक्त उसे और भी सब प्रकार की सुविधायें थीं। एक बड़ा पुस्तकालय और पाठनालय भी थे। किसी वस्तु का अभाव न था। शुद्ध दूध और मक्खन तथा ताजी तरकारियां मिलती थीं। केवल अभाव था फैशन की अनावश्यक वस्तुओं का, सो शीला उन्हें कभी की छोड़ चुकी थी। उसका अभाव अब उसे कभी खटका न था। एक चीज़ जो उसे सब से अधिक प्रिय जान पड़ती थी, वह था, कभी कभी खेतों में जाकर सत्येन्द्र को काम करते हुए देखना, और उसके साथ बातचीत करना। शीला रवि का यहां होना भी जान गई थी, किन्तु दोनों ही मानो एक दूसरे की छाया से दूर भागते थे। दोनों को ही एक दूसरे से मिलने की इच्छा न थी। यत्न भी वह दूर दूर ही रहने का करते थे, किन्तु न जाने क्यों शीला जब भी कभी यह तनिक-सा दर्शन तथा बातचीत का सुख पाने खेतों की ओर चली जाती, सत्येन्द्र उस रात्रि को चैन से सो नहीं पाता था, रात भर उसे मानसिक अशान्ति और शीला के ही दर्शन होते रहते थे। स्वयं शीला भी अनजाने ही तीव्रता से चंचल गति से सत्येन्द्र की ओर आकर्षित हो रही थी। अब तो कभी कभी श्यामसुन्दरी

भी इन सब की संस्था में आकर कुछ दिन रह जाती थी। पर इन दिनों में सब को रसोई में जाने की आज्ञा न होती थी। ऋचा को भी बड़ी सावधानी से रहना पड़ता था। ऋचा भी अब ब्राह्मणी नहीं थी ? अन्नपूर्णा को अपनी चमार सन्तान से भी घृणा नहीं होती। मानव-जीवन को जहां सयंम, नियम, छूतछात, जाति-बन्धन आदि मानकर चलना पड़ता है, वह स्थान भी मानव-समाज में आवश्यक है किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है वह स्थान, जहां पहुंचकर कि मनुष्य उस संयमादि से भी कहीं ऊपर पहुँच जाता है। ऋचा उसी स्थान तक पहुंच गई थी, वहां से अब उसे वापिस आने की कोई आवश्यकता ही न थी। रूपेन्द्र भी कभी कभी यहां आकर गांव की खुली चिन्तारहित वायु का सेवन करते थे। सत्येन्द्र का काम उन्हें बहुत ही भला लगता था। कभी कभी गोबिन्द काका के समझाने बुझाने से अप्रसन्न भी हो पड़ते थे, किन्तु शिखा को उस अप्रसन्नता को धो पोंछ डालते कुछ भी देर न लगती थी। यही तो उसका कर्त्तव्य था।

शिखा भी अपनी गृहस्थी से ऊब कर कभी कभी ऋचा का विश्व परिवार सम्भालने आ जाती थी। जगत तो मास का अधिकांश ऋचा के पास ही बिताता था। शिखा भी हँसकर सत्येन्द्र से कहती—"भाई जरा इस जमीन्दार के बेटे को भी अपना सरीखा मजदूर तो बना डालना।"

सत्येन्द्र हँस कर कहता—"भाभी जमींदार का बेटा तो मजदूर शायद बन सके, पर भाभी का यह बेटा इससे शायद कहीं ऊंचा बन सकेगा। नहीं, तो वह भाभी का बेटा और मजदूर का भतीजा ही कैसा होगा ?"

शिखा साधारण हँसी हँसकर फिर किसी काम में लग जाती।

उस दिन सन्ध्या के समय सूर्यास्त बहुत ही लुभावना जान पड़ता था। आकाश लालिमा से भर चुका था। बादल धीरे धीरे हिल रहे थे। शीला लान में बैठी अकेली ही पौधे देख रही थी। एकाएक उठ खड़ी हुई और खेतों की ओर चल पड़ी। उसकी अतीव इच्छा थी सत्येन्द्र के गुलाबी, परिश्रम-कणधारी मुख की इस सूर्य के लाल मुख के साथ तुलना करने की। कितना विशाल है वह ललाट जो स्वेद कण धारण करके मानो सौन्दर्य सा बरसाने लगता है। कैसे विशाल हैं वह नेत्र, जिनमें सदैव सब के लिए अतीव ममता, अतीव प्यार और अधिकाधिक सहानुभूति भरी रहती है। इन सब के पीछे, इस मीठी वाणी और उदार बातचीत के पीछे कितना विशाल हृदय छिपा हुआ होगा? वह जानने के लिए शीला लालायित हो उठती थी और कितनी भाग्यशालिनी होगी वह रमणी जो सहज ही इस हृदय की अधिकारिणी हो सकेगी? शीला यहीं आकर ठहर जाना चाहती थी, किन्तु ठहर सकना न उसके वश की बात थी और न इस संयम में विश्वास ही करती थी। सोचते सोचते शीला बहुत दूर निकल गई, शायद खेतों को भी पीछे छोड़ती गई। कल्पना लोक में सत्येन्द्र के ही विषय में विचार करती जा रही थी। उसका हृदय नये ही आनन्द से भर रहा था। अचानक दूर से सत्येन्द्र आता हुआ दिखाई दिया। खादी की घुटनों तक ऊँची धोती, ऊपर खूब मोटा कुरता, हाथ में एक ऊँचा सा लट्ठ और चमरौधे जूते, यही उस फर्स्ट क्लास मेजुएट की वेशभूषा थी। शीला को आज पहली ही बार इस गँवारा वेश भूषा में कुछ सौन्दर्य दिखाई दिया। उसे लगा जैसे यही वास्तव में

सुन्दर वेष है। सत्येन्द्र की आँखें एक तेजपूर्ण ढङ्ग से चमक रहीं थीं। आकाश कुछ कुछ लालिमा धारण करने लगा था। पास जाकर शीला ने कहा—"आज किधर चले गये थे सत्येन्द्र ?"

"मैं तो इधर प्रतिदिन सैर करने जाता हूँ। कुछ घास फूँस भी इधर उधर से इकट्ठा करता आता हूं, सुबह हमारी संस्था के व्यक्ति आकर गाय भैंसों के लिए ले जाते हैं, परन्तु तुम आज इतनी दूर कैसे आ गई ?" शीला की इच्छा हुई कि कह दे मैं तो प्रतिदिन ही तुम्हारे साथ यहां आना चाहूँगी यदि तुम चाहो तो ? इस उत्तर को सोच कर ही उसके दिल में एक हलकी सी गुदगुदी हुई पर उस उत्तर को मन ही मन पीकर प्रसन्न मुख से शीला ने कहा—"क्यों ? इधर प्रकृति का सुन्दर रूप देखने चली आई। सूर्यास्त के समय प्रकृति मानो भगवान की अनुपम देन सी मालूम देती है।"

इसी समय सत्येन्द्र कुछ मुस्करा कर बोला—"किन्तु तुम्हें तो ईश्वर में विश्वास ही नहीं, आज उसकी इतनी बड़ी देन कैसे स्वीकार कर ली ?"

शीला यह जान कर कि उसने अनजाने ही भगवान का अस्तित्व समस्त हृदय से ग्रहण कर लिया है लज्जित हो गई, किन्तु बात टाल कर बोली—"चलो सत्येन्द्र रात तो अभी हुई नहीं है, थोड़ा आगे तक न टहल आयें ?" वहां इस प्रकार घूमना फिरना समाज में पाप या अपराध नहीं समझा जाता था।

सत्येन्द्र की तनिक भी इच्छा शीला के साथ उस सायङ्काल की अँधेरी कालिमा में घूमने जाने की न थी, उसे स्वयं अपने आप से भय लगता था। उसके भीतर की मानव दुर्बलताएँ

हंस रही थीं और वह यह जानता था एक दिन समस्त संसार की दृष्टि से अगोचर, स्वयं शीला से भी अज्ञात सत्येन्द्र ने कालेज के प्रारम्भिक दिनों में ही उसे प्यार किया था। हृदय से प्रेम किया था, किन्तु वह प्रेम रजतपट की वस्तु न थी, था विशुद्ध हार्दिक प्रेम। उसमें दिखावे को स्थान न था। शीला को वह प्रेम शायद पसन्द नहीं आया। उसके लिये शीला के जीवन में कोई भी स्थान न हो सका। सत्येन्द्र ने भी शीला को बताने का यत्न नहीं किया। वह कुछ भी हो, शीला ने सत्येन्द्र को ग्रहण न किया। रवि उसके स्वप्नों का केन्द्र बन गया था। अब भला मित्र की वस्तु पर सत्येन्द्र क्यों कर दांत गड़ाता? सत्येन्द्र ने बलपूर्वक हृदय की भावनाओं को हृदय में ही घुट-घुट कर मर जाने दिया। किसी को कुछ भी ज्ञात न हुआ, न हुआ रवि को और शीला को। शीला के पिता जब शीला को सत्येन्द्र के लिये दान करने को प्रस्तुत हुये तो सत्येन्द्र के आशा स्वप्न कुछ सजीव से हो उठे। उसने तुरन्त ही स्वीकृति दे दी। उसका जीवन एकबार फिर आनन्द से खिल उठा। पर इसबार भी शीला ने जान-बूझ कर बलपूर्वक उसे ठुकरा दिया। न जाने यह ठोकर ठेस पहुँचाने वाली थी अथवा नहीं, किन्तु इसने सत्येन्द्र का जीवन अवश्य परिवर्तित कर दिया, बिल्कुल ही बदल दिया। उसके पश्चात् न जाने क्यों सारे ही विवाह सन्देश सत्येन्द्र एक ही फूँक से उड़ा देता था। मां दुःखी होती थी, शिखा क्रोधित, और रूपेन्द्र चिढ़ जाते थे, ऋचा भी रिस करती थी, किन्तु सत्येन्द्र हँस देता था, दृढ़ था। फिर भी उसका अमूल्य रहस्य अज्ञात था। शायद यहां गांव के एकान्त कोने में उसने मूक, अज्ञात वास ही करना

चाहा था, जिसे ऋचा ने सर्वथा बदल कर कुछ और का और ही कर दिया। सत्येन्द्र को भी इसमें आनन्द ही आया, स्वस्थता का ही भास हुआ, किन्तु हृदय की नीरव, मौन, बलपूर्वक दबाई हुई पीड़ा कभी कभी उमड़ पड़ती थी। जिस दिन रवि ने आकर शीला के पति-त्याग का सन्देश दिया, उस दिन वह वेदना बढ़ी और जिस दिन स्वयं शीला यहां आ उपस्थित हुई तो वह पीड़ा असह्य हो गई। उसकी इच्छा शीला को यहां से दूर ही रखने की थी पर दुःख भरा आवेदन-पत्र पढ़ कर, जब ऋचा ने उसके हित के लिए यही उचित समझा तो सत्येन्द्र ने स्वेच्छा के विरुद्ध भी उसे बुला लिया। सत्येन्द्र की कभी कभी इच्छा होती कि शीला उसे ग्रहण करले, किन्तु वह समस्त शक्ति से बलपूर्वक उस इच्छा को दबा डालना, मार डालना और कठिन से कठिन परिश्रम में अपने मन और तन को लगा डालना चाहता था, यही उसका सब से सीधा उपाय था। यत्नपूर्वक यथासम्भव वह शीला की छाया से भी बचता, किन्तु न जाने क्यों, अब आजकल जाने या अनजाने, शीला कहीं न कहीं से उसके रास्ते में आ ही पड़ती थी। आज भी घूमने चलने का प्रस्ताव सुन कर बुद्धि ने समस्त शक्ति से कहा—"नहीं, सो न होगा। इस प्रकार अपने आप को स्वयं ही कठिन दलदल में फँसा कर दुर्बल प्राणी बच न सकेगा और अपने साथ ही इस रमणी-रत्न का भी सर्वनाश करेगा।" बुद्धि की सुनता ही कौन है? मन ने मचल कर कहा—"यह अवसर प्रतिदिन तो आता नहीं, आज जब आ ही गया है तो उसे सहज ही न गँवा दो, केवल साथ घूमने में हानि ही क्या है? चलो, दृढ़ता की परीक्षा भी हो जाएगी और फिर जब वह स्वयं निमन्त्रित कर

रही है तो यह सभ्यता के विरुद्ध न होगा।" कुछ ठहर कर सत्येन्द्र ने कहा—"चलो, किन्तु लौटना भी है।"

शीला खिल उठी। यह भी उसकी एक विजय ही थी और वह इस पर प्रसन्न थी, बहुत प्रसन्न थी। शीला स्वतन्त्र रमणी थी, नगर के सभ्य समाज में उसने स्वतन्त्रता का पाठ पढ़कर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया था। सत्येन्द्र से पूछ बैठी—"सत्येन्द्र! तुम इतने उदास से क्यों रहते हो? कालेज में तो एक दिन तुम हास्य नेता माने जाते थे।"

"क्यों? कोई विशेष कारण तो नहीं है शीला?"

किन्तु "इसका कारण तो तुम्हीं हो" सत्येन्द्र के होठों तक आकर बलपूर्वक दोनों दन्त-पंक्तियों द्वारा दबा लिया गया।

"कोई तो कारण होगा ही। अब कविता भी करते हो या नहीं?"

"कविता तो कभी की छोड़ दी है शीला।" तनिक हँस कर सत्येन्द्र ने कहा।

"क्यों?"

"यूँ ही।" सत्येन्द्र ने धीरे से कहा। झूठ बोलने और बात टालने का उसे अभ्यास न था। कुछ देर चुपचाप चलते चलते अचानक शीला ने पूछा—"सत्येन्द्र! मुझे कविता करना आ सकता है कि नहीं?"

बच्चों का सा सरल निरीह प्रश्न था। यहां आने के पश्चात् सत्येन्द्र शीला का परिवर्तन लक्ष्य कर रहा था, किन्तु वह इतनी दूर तक पहुँच चुकी है यह सत्येन्द्र स्वप्न में भी न सोच सका था। कुछ कल्पना सी करके उसे भय भी होने लगा। पर भय, कौतूहल और शंका दबाकर उसने सहज ही पूछा—

"भला कविता करने की इच्छा क्यों हुई शीला ? क्या लीडरी के यश से आत्मा की तृप्ति हो चुकी।" यह सत्येन्द्र का व्यंग था तीव्र और कठोर।

शीला तड़फकर बोली—"मेरी उस दुर्बलता को लेकर संसार भर में एक तुम भी यह व्यंग कर सकते हो सत्येन्द्र, सो मुझे ज्ञात न था।"

शीला का अपने ऊपर इतना दृढ़ विश्वास देख कर सत्येन्द्र स्वयं ही अपने शब्दों पर लज्जित हो उठा। इस कण्ठ में जड़ता न थी, था विश्वास, दृढ़ विश्वास।

लज्जित होकर सत्येन्द्र ने कहा—"शीला! मेरा तात्पर्य्य तुम्हें दुःखी करने का कभी भी नहीं था। हां, इच्छा करने पर तुम कवियित्री भी बन सकती हो।"

"तब फिर मुझे, तुम्हें ही गुरु बनाना होगा सत्येन्द्र।" बच्चों की सी सरल हँसी हँसकर शीला ने कहा।

"सो शायद न हो सकेगा शीला। सत्येन्द्र में गुरु होने की योग्यता ही नहीं सो शायद तुम नहीं जानती ?" सत्येन्द्र ने गम्भीर स्वर में कहा।

"शीला को यह जानने की आवश्यकता भी नहीं है, उसे तो तुम्हीं से दीक्षा लेने की इच्छा है।" हँसकर शीला ने कहा। उसकी इच्छा हो रही थी कि कह उठे—"मुझे तो तुम्हें सर्वस्व दे देने की भी इच्छा हो रही है देव।" पहली ही बार उसे जीवन में ज्ञात हुआ कि वह बिना मांगे, बिना छीने ही, बिना इच्छा किये ही अपना स्वार्थ किसी को दे डालने को पागल हो उठी है। सत्येन्द्र अपना प्रेम शीला से प्रकट करता, मुख खोलकर शीला की कृपा के आगे आंचल पसारता, तो

शीला हँसकर सम्भवतः ठुकरा देती, उदासीन हो जाती; किन्तु सत्येन्द्र की दृढ़ता, उसके गम्भीर सम्भाषण और लापरवाही ने शीला को आकर्षित कर लिया। रवि की लापरवाही से ही एक दिन शीला को उसे जीतने की प्रबल इच्छा हुई थी। उसने यत्न करके परास्त भी कर दिया। आज फिर एक व्यक्ति ने उसी प्रकार नारी के समस्त सौन्दर्य की ओर लापरवाही दिखाई थी और शीला की सुप्त नारी फिर एक बार इस व्यक्ति को परास्त करने को आग्रह हो उठी थी। आज भी आने से पूर्व शीला ने अपने कमरे में रखे छोटे से दर्पण में अपनी प्रतिछवि देखी थी। अभी तक भी शीला के उज्ज्वल विशाल नेत्रों में चमक है, मुख पर लावण्य है।

"शीला चलें, अब तो रात होने लगी है और फिर लौटना भी काफी दूर है।"

"थोड़ा और चलें सत्येन्द्र। आज की रात भी ज्ञात होता है अत्यन्त सुहावनी है। मैंने अपने जीवन में इससे सुन्दर अन्य कोई रात्रि देखी ही नहीं। मेरे जीवन में ऐसी कोई और रात कभी नहीं आई।" शीला ने अतीव भावुकता से कहा।

सत्येन्द्र स्वयं भी शायद यही कहना चाहता था, पर मुख बन्द ही रहा। सत्येन्द्र चुप रहा। शीला ने फिर कहना शुरू किया—"सच कहती हूं सत्येन्द्र, मुझे आज की रात बहुत ही भली प्रतीत होती है।" शीला कुछ बहक सी रही थी।

"सचमुच पूर्णिमा की रात्रि सुन्दर होती है शीला, पर रात अधिक बीत चुकी है, चलो रिन्नी चिन्ता करती होगी।" सत्येन्द्र ने घबराते हुये कहा।

उसका हृदय हर्ष से फूल उठा था, पर इतनी प्रसन्नता वह एक साथ हृदय में भर भी सकेगा या नहीं, इसमें उसे संदेह था। तो क्या शीला उसे प्रेम करती है? यही तो उसके जीवन का चिर-मधुर स्वप्न था। तो क्या तपस्या सफल हुई? पर स्वप्न सत्य होकर ही रहेगा। जीवन क्या फिर आशा को लेकर मधुर बन सकेगा? किन्तु नहीं, शीला पर-स्त्री है। सत्येन्द्र जान बूझकर अनुचित कार्य नहीं करेगा। शीला को भी यह अकार्य, यह पाप नहीं करने देगा, नहीं करने देगा, इच्छा रहने पर भी नहीं करने देगा। यदि स्वयं उसका हृदय इसमें विघ्न डालेगा, कुछ गड़बड़ी करेगा, तो वह स्वयं उस उद्दण्ड हृदय को मसल कर नष्ट कर देगा।

"चलो शीला! चलो, अब अधिक दूर मैं नहीं जा सकूँगा।" दृढ़ता से सत्येन्द्र ने कहा। किन्तु उस दृढ़ता को लक्ष्य करने की शक्ति शीला पहले ही खो चुकी थी। दीनता से उसने कहा—"सत्येन्द्र! आज तो कह लेने दो, फिर कभी क्या यह शुभ अवसर जीवन में आयेगा? चिर-संचित पाप और पुण्य की पूँजी आज अन्तिम बार मरने से पूर्व ही किसी को सौंप जाने दो सत्येन्द्र। ऐसा हुये बिना मुझे शान्ति नहीं होगी।" तब क्या शीला की शान्ति के लिये सत्येन्द्र अपनी शान्ति की आहुति दे डालेगा, ऐसा करके उसे क्या मिलेगा? कठोर, घोर अशान्ति वेदना और दुःख।

"शीला, तुम्हें क्या हो गया है? क्यों इस प्रकार प्रलाप कर रही हो, लौट चलो।" अनिच्छा से सत्येन्द्र ने आगे जाती हुई शीला का वस्त्र पकड़ कर आगे बढ़ने से रोका। इस वस्त्र के झटके और स्पर्श ने शीला के बचे-खुचे संयम को भी

बहा डाला। नदी का बांध जो अभी तक धीरे धीरे टूट रहा था, एकदम से ही टूट गया। अब उस असीम बल का न कहीं ओर था और न छोर। एक तीव्र प्रवाह में पेड़, पत्थर, जीव-जन्तु, सब ही बह चले। शीला के सँयम का बाँध टूट चुका था। शीला एकदम सत्येन्द्र के धूल से भरे चरणों के निकट बैठ गई।

"सत्येन्द्र! आज तक मैंने खड़े होकर सिर उठाकर चलना ही सीखा था। आज ही यह समझ पड़ा कि नारी का स्थान केवल चरणों में ही है। स्वतन्त्रता का अर्थ सिर झुकाना ही है, सिर उठाकर ठोकर मारना नहीं। आज तक सब कुछ लेती ही रही लेने की ही इच्छा करती रही, आज जीवन के शुभ प्रभात में सब कुछ दे डालना चाहती हूँ, स्वीकार करोगे?"

सत्येन्द्र आश्चर्य से चकित हो उठा। इतने सुन्दर स्वप्न की तो उसने किसी दिन भी आशा नहीं की थी। इच्छा हुई, प्रबल इच्छा हुई कि शीला को उठाकर, आदर से, हृदय से लगा ले। ऐसा अवसर जीवन में फिर आयेगा नहीं। आज ही देवता ने उसकी समस्त तपस्या का वरदान दिया है, वह क्यों न उसे आगे बढ़कर प्रेम पूर्वक ग्रहण करे? किन्तु शीला रवि की धर्मपत्नी है। सत्येन्द्र ने सुख की सुगन्धित मधु कुसुमित माला को अपने हाथों, पैरों तले डालकर स्वयं ही कुचल डाला। उसने शीला को उठाकर कहा—"सुनो शीला, प्रेम का नाम है संयम। आत्म समर्पण में शान्ति होती है, कटुता नहीं। जिस प्रेम में संयम नहीं है, वह प्रेम नहीं, प्रेम का उपहास है।"

"किन्तु तुमने भी तो किसी दिन शायद शीला को प्रेम किया था, आज क्या वही, जो शीला ने एक दिन ढिठाई से लौटा दिया था, उसे वह भीख में भी नहीं पा सकेगी?"

शीला की आंखों में जल था।

"नहीं।" कहते हुये सत्येन्द्र की आँखों में आंसू झलक उठे। कठिनाई से शीला की दृष्टि बचाते हुए सत्येन्द्र ने उन्हें पोंछ डाला।

"शीला, किसी दिन शायद तुम्हें प्रेम किया था और आज भी तुम्हें कुमार्ग पर न जाने दूंगा, यही मेरा अमिट दावा है। इसी दावे को लेकर कहता हूँ कि रवि के पास लौट जाओ, वहीं, उसी के चरणों में तुम्हारा सबसे अधिक सुरक्षित स्थान है, उस स्थान से भ्रष्ट होकर धर्म और समाज दोनों ही तुम्हें अश्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे और वह मैं सह न सकूंगा शीला?" कठिनता से वाक्य पूरा हुआ, वह कांप रहा था।

"मुझे समाज का भय नहीं, धर्म से भी मैं नहीं डरती।"

"तब फिर तुम्हारे प्रेम के दावे पर ही कहता हूं, आज्ञा देता हूँ शीला, कि रवि के पास तुम्हें लौट जाना ही होगा। यही मेरा अन्तिम अनुरोध है।"

"तब फिर और कोई उपाय नहीं।"

"नहीं।" उसके हृदय पर फिर चोट पहुंची। वह तड़फ उठा, पर बाहर से शान्त था।

"अच्छा।" शीला एकदम पूरी ऊँचाई में तनकर खड़ी होगई।

"तब फिर ऐसा ही होगा। सत्येन्द्र! शीला तुम्हारी किसी भी आज्ञा को टाल नहीं सकेगी। यदि तुम कहते कि इसी समय मेरे साथ नदी के अथाह जल में डूब कर मर जाओ तब भी शीला अवश्य मानती। यदि तुम कहते कि शीला चलो, किसी दूर देश में समाज की लोलुप दृष्टि से परे भाग

चलें, तब भी शीला तुम्हारे साथ थी। आज तुम उस व्यक्ति की शरण में जाने को कहते हो, जिससे मुझे आज तनिक भी प्रेम नहीं है। यह शायद मृत्युदंड से भी कठोर आज्ञा है, किन्तु शीला अब सहनशीलता का पाठ पढ़ेगी। वह तुम्हारी इस आज्ञा पर भी सिर झुकाकर कहती है, प्रभु तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो। यही आज उसने स्वतन्त्रता का अन्तिम पाठ पढ़ा है, यही उसकी चिर-प्रिय स्वतन्त्रता है जिसकी उसे सदा से ही खोज थी।"

सत्येन्द्र में बोलने की शक्ति नहीं थी। उसका मुखमंडल मृत्यु की विभीषिका से भी अधिक भयंकर, अधिक श्वेत हो गया था, मानो देह का समस्त रक्त उस आज्ञा के साथ ही बहकर कहीं चला गया था। यह उसकी विजय थी अथवा भयंकर हार।

"अच्छा, तब फिर चलो। किन्तु सत्येन्द्र! इस तपस्या के पश्चात् शायद इसी त्याग के बल पर तुम्हें पा सकूँ, इसीलिये यह त्याग इच्छा के विरुद्ध अवश्य करूंगी। मुझे पुनर्जन्म में विश्वास होने लगा है।" कहकर शीला ने भक्ति-पूर्वक सत्येन्द्र के चमरौधे जूते समेत धूल भरे चरणों में माथा टिकाकर प्रणाम किया, और दोनों घर की ओर चल पड़े। कौन जानता है दोनों में ही भीषण परिवर्तन हो गया था। एक आ रहा था सर्वस्व लुटाकर, खोकर, दान देकर और दूसरी सर्वस्व पाकर, ग्रहण करके। एक का मुख सूख रहा था, हृदय टूट रहा था दूसरी के मुख पर वास्तविक पथ पा जाने की गौरवमयी लालिमा थी। एक का महान् आत्म-त्याग दूसरी के निकट आज भी अज्ञात ही रह गया, दूसरी का हृदय उसके सम्मुख दर्पण की

तरह खुल गया। सत्येन्द्र उस रात भोजन नहीं कर सका और सो भी नहीं सका। सारी रात देवमन्दिर में बैठकर यही प्रार्थना करता रहा—"हे विश्वेश्वर, मुझे बल दो, सहन शक्ति दो!"

विधवा

"शची! विधवा का विवाह होना तो तुम्हारे धर्मशास्त्रों में भी लिखा है।"

"होगा, किन्तु भाई, विधवा का जन्म पुनर्विवाह के लिए नहीं होता। भगवान एक बार जिसका सीमित दायरा छीन कर, जिसे संसार सौभाग्य कहता है, जब स्वयं उसे अपनी शरण में ले लेते हैं, उसे ही वह विधवा करते हैं। श्री नारायण स्वयं उसे ग्रहण करने के लिए ही तो उसके सांसारिक पति की देह च्युत करके उसे अपनी विश्व देह में ही मिला लेते हैं, और इसी प्रकार पतिव्रता नारी को अपनी बना लेते हैं। अब जो रमणी स्वयं लक्ष्मी के स्थान पर पहुंच चुकी हो, वहां से वह सांसारिक व्यक्ति की पत्नी होने के लिए क्यों लौटेगी? भला सोचो तो।"

"यह सब केवल कल्पना है। बिचारी भारतीय अबलाओं को धोखा देने का ढकोसला है।"

"क्या सचमुच रवि!" मजाक से शचा ने कहा—"तब तो सचमुच हिन्दू समाज में बड़ा ही अन्धेर है। कुछ

उपाय करो ना ?" फिर तुरन्त ही गम्भीर होकर ऋचा ने कहा —"रवि भईया ! मैं आज भी अपने विश्वपति स्वामी से आदेश लेती हूं, उनकी सेवा करती हूँ और अपनी तथा उनकी सन्तान का पालन करती हूं। कोई भी विधवा इस सुखी गृहस्थी में बैठकर आनन्द से संसार चला सकती है, फिर भला वह अपने विस्तृत परिवार को छोड़कर छोटे से संकीर्ण परिवार को क्यों ग्रहण करे ? भला बताओ तो सही।" सरलता से ऋचा ने कहा।

रवि का धैर्य कभी का विदा हो चुका था। उसने उन्मत्त के से शब्दों में कहा—"रिची ! मैं तुम्हें सदा ही प्रेम करता रहा और आज भी करता हूँ। मैंने तुम्हारे पीछे शीला को भी त्यागा, अपना चिर प्रिय विश्वास और सभा का त्याग किया। तुम भी मुझे प्रेम करती थी एक दिन अवश्य, आज मुझे अपना लो रिची ! मुझे मनुष्य बना लो।"

ऋचा क्षणेक चुप ही रही फिर उसने कहा—"रवि भईया ! एक दिन अनजाने ही तुम्हें कुछ देना चाहा था, जो तुमने ग्रहण नहीं किया। उस अनजाने ही देने की इच्छा करके जो पाप किया था, उसी के दण्ड स्वरूप अकाल में ही मेरे देवता स्वरूप स्वामी मुझ से छिन गये। अब दूसरा पाप करके अपने अजर अमर अनादि स्वामी को भी खो देने की भूल न करूँगी। यह शरीर देवता का नैवेद्य है, इस पर हाथ डालते ही अंगुलियां इसकी ज्वाला न सह कर भस्म हो जाएँगी। जाओ, लौट जाओ, शीला तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। वही तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर की साथी है। उसका आदर करना सीखो। माता का अपमान करके सन्तान सुखी नहीं रह सकती।" वास्तव में उसके नेत्रों

से चिन्गारियाँ सी निकल रहीं थीं। रवि उस अपूर्व ज्योति को देख कर नतमस्तक हो गया। रवि चुप ही रहा, ऋचा चुप नहीं थी।

"रवि भईया !" ऋचा का स्वर साधारण और वात्सल्यपूर्ण था, "तो फिर झटपट जाकर शीला भाभी से ही क्षमा माँग डालो, जिनके तुम अपराधी हो?" बिना कुछ कहे ही रवि चला गया।

रवि के जाने के पश्चात् ऋचा ने भगवान के निकट निवेदन कर दिया—"सुनो स्वामी! मैं कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई। तुम्हारे ही प्रताप, तुम्हारे ही बल से ना? और इतना बल मैं कहाँ पाती? आशीर्वाद दो कि जन्म-जन्मान्तर तक इसी प्रकार कठिन से कठिन जीवन परीक्षा में उत्तीर्ण होती रहूँ, नाथ।"

उसके कमल नयनों से बह रहे प्रसन्नता के अश्रु उसके विश्व स्वामी के मानो कल्पना में ही चरण धो रहे थे। यह आंसू कितने उज्ज्वल थे, कितने पूर्ण और कितने अमूल्य? सृष्टि का समस्त ऐश्वर्य जल की इन दो खारी बूँदों पर निछावर किया जा सकता है। यही तो वास्तव में नारी का रूप है, इस रूप को पाकर ही तो नारी विश्वनियन्ता के सम्मुख खड़ी होकर समस्त गौरव से उसे प्रणाम कर सकेगी।

"प्रभु! तुम्हारे दिये हुए मानव शरीर से ही मैंने देवत्व प्राप्त कर लिया है। अब यह तुम्हारी दया का दान, क्षणभंगुर शरीर तुम्हारे ही हेतु समर्पण करती हूँ। प्रभु, तुम्हारी ही वस्तु तुम्हें समर्पण कर आज मैं धन्य हुई।" यही नारी का रूप है।

अन्तिम विदा

बहुत समझाने-बुझाने, अनुनय-विनय करने पर भी सत्येन्द्र वहां रहने पर राजी न हुआ। उसे अपने दुर्बल हृदय पर विश्वास नहीं था। कल न जाने यह दुर्बल हृदय क्या कर बैठे ? अन्य लोगों का विश्वास उसके विषय में कुछ भी रहा हो; किन्तु वह स्वयं अपने हृदय की दुर्बलता से परिचित था।

भाई के पूछने पर सत्येन्द्र ने कहा—"भईया, यहां का कार्य हो चुका। अच्छा, शीला और रवि भली प्रकार कार्य भार सम्भाल सकेंगे और फिर आप तो हैं ही। जगत भी समझदार हो जायेगा। मैं तो अब दूसरे स्थान पर जाकर कार्य करूँगा।"

रूपेन्द्र को ज्ञात था कि सत्येन्द्र चिर कुमार रहने की प्रतिज्ञा कर चुका है। अन्तिम विदा के शुभ उद्देश्य पूर्ण अवसर पर, सत्येन्द्र की चिर पुण्यमयी तीर्थ-यात्रा के अवसर पर, रूपेन्द्र फिर विवाह का विषय छेड़ कर सत्येन्द्र के महान उद्देश्य को अपमानित न कर सका। हृदय से आशीर्वाद देते देते रूपेन्द्र की आंखें सूखी न रह सकीं।

शिखा इस तेजस्वी, ब्रह्मचारी, सन्यासी युवक के मुख-मंडल पर अपूर्व ज्योति देखती ही रह गई। कुछ भी आशीर्वाद देना उसकी शक्ति से बाहर था। उसने सत्येन्द्र के चरणों में प्रणाम करते हुये जगत की ओर देख कर कहा—"सत्येन्द्र, तुम्हें आशीर्वाद दे सकूंगी, ऐसी शक्ति मुझ में

नहीं, किन्तु जगत को तुम हृदय से आशीर्वाद दो कि वह तुम्हारी ही प्रतिमूर्ति बन सके।"

सत्येन्द्र ने जगत को और चुन्नी को प्यार करके हार्दिक आशीर्वाद दिया।

श्यामासुन्दरी के आँसू सूख चुके थे। शुभ्रवदना उन्होंने केवल यही कहा—"बेटा, जो माँ की भी माँ हैं, उनके चरणों में जाते हुये तुम्हें क्या आशीर्वाद दूँ, फिर भी यदि माँ के आशीर्वाद में कोई शक्ति है तो रोम रोम से कहती हूँ कि तुम्हारा कण्टकाकीर्ण मार्ग भी मंगलमय की लीला से मंगलमय हो जाये।"

रवि और शीला दोनों ने साथ ही साथ सत्येन्द्र को प्रणाम किया। रवि को हृदय से लगाकर चरण छूती हुई शीला के सिर पर हाथ रखकर सत्येन्द्र ने कहा—"शीला, सौभाग्यवती हो। गौरी के समान अखण्ड सौभाग्यशालिनी हो, किन्तु किसी समय भी अतुल सुख सौभाग्य में ऋचा को न भूल जाना।"

सत्येन्द्र के चले जाने के पश्चात् कौन जानता है कि शीला कितनी देर तक उस मिट्टी को गीली करती रही, जिसने सत्येन्द्र की पगधूलि बनने का सौभाग्य प्राप्त किया था। यह शीला की प्रथम और अन्तिम हार थी और सम्भवतः अत्यन्त मधुर, चिर प्रिय।

सब से अन्त में ऋचा ने सत्येन्द्र के चरण छूकर कहा—"भईया, तुम्हारी सदा की साथी, सदा ही साथ देने वाली ऋचा को आज यहीं रहने का आदेश देकर जाते समय कोई आशीर्वाद भी नहीं दोगे क्या?"

सत्येन्द्र की आँखें अब तक सूखी थीं, अब सहसा उनमें समुद्र सा उमड़ पड़ा। धीरे धीरे उन्हें पोंछते हुए सत्येन्द्र ने

ऋचा के सिर पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा—"रिची, बहिन मेरी ! तुझ में सामर्थ्य है, शक्ति है, बल है, उसी बल का आज अपने में अभाव पाकर ही तो जान बूझ कर निर्वासित होरहा हूँ। फिर आज यह मोह-बन्धन क्यों ? आज तो समस्त बन्धन काट चुका हूं। फिर बहिन यही क्यों ?" कुछ ठहर कर सत्येन्द्र ने कहा—"जिस ने जीवन में केवल देना ही सीखा था, जिस के हिसाब में केवल देन ही देना रहा है, पावना कभी भी नहीं आया, जो सब कुछ देकर भी कभी प्रतिदान की इच्छा नहीं करती, कभी ग्रहण नहीं करती, लेती भी नहीं, जिसे दे सकने योग्य अखिल ब्रह्माण्ड में किसी के पास कुछ है ही नहीं, उसे देने योग्य आशीर्वाद मेरे पास है ही कहां ?"

ऋचा ने चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया।

भरे गले से रवि ने कहा—"वह चला गया।" रवि की आंखों में आँसू भरे थे।

सूर्योदय की अद्भुत लालिमा में तीन व्यक्ति सुदूर जाते हुए एक व्यक्ति को एकटक देख रहे थे। शीला मन ही मन सोच रही थी, "जिस ने सारे जीवन में......देकर भी कभी प्रतिदान की इच्छा नहीं करती.........कभी लेती भी नहीं.........उसे देने योग्य मेरे पास आशीर्वाद है ही कहां ?"